महेन्द्रविक्रमवर्मा-कृत

मत्तविलास-प्रहसन

(विस्तृत-भूमिका, हिन्दी-अनुवाद एवं टिप्पणियों सहित)

रानी मजूमदार

विवेक पब्लिकेशंस
अलीगढ़

पेक्षा 'मत्त

[illegible]ी [illegible]

Rs. 100/=

28/3/14
Library

Sahitya

महेन्द्रविक्रमवर्मा-कृत

मत्तविलास-प्रहसन

(विस्तृत-भूमिका, हिन्दी-अनुवाद एवं टिप्पणियों सहित)

सम्पादिका एवं अनुवादिका

रानी मजूमदार

एम०ए० (अलीगढ़), पी-एच०डी० (वल्लभ-विद्यानगर)

संस्कृत-विभाग,

महिला महाविद्यालय,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़

विवेक

विवेक पब्लिकेशंस

अलीगढ

RGCSLIB

16366

CALL NO.......

प्रकाशक :
विवेक पब्लिकेशंस,
३/३६४, समद रोड,
अलीगढ़-२०२००१ (उ०प्र०)

प्रथम संस्करण : १९८८
मूल्य : पुस्तकालय संस्करण : रु० [redacted] 100/=
विद्यार्थी संस्करण : रु० ३०

MATTAVILĀSA-PRAHASANA
OF
MAHEṆDRAVIKRAMAVARMAN

Edited by :
Rani Majumdar

First Published : 1988
Price : Library Edition : Rs. [redacted] 100/=
Student Edition : Rs. 30

Viveka Publications,
3/364, Samad Road,
Aligarh-202001 (India)

मुद्रक :
चित्रा प्रिंटिंग प्रेस
गंगागंज, पड़ाव दुबे,
अलीगढ़-२०२००१ (उ०प्र०)

समर्पण

परम-पूज्य-पिता

स्व० रमेन्द्रसुन्दर मजूमदार

की

पुण्य स्मृति में

विषय-सूची

शुभाशीर्वाद		
प्राक्कथन		
सङ्केताक्षर-सूची		
भूमिका	...	१-२१
मत्तविलास-प्रहसन (मूल-संस्कृत एवं हिन्दी-अनुवाद)	...	२१-६३
प्रहसन के पात्र	...	६४
टिप्पणियाँ	...	६५-८१
श्लोक-सूची	...	८२
सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची	...	८३
शुद्धि-पत्र		८४

शुभाशीर्वाद

डा० रानी मजूमदार एम० ए० कक्षा में मेरी छात्रा रही हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से उच्च प्रथम श्रेणी में एम०ए० उपाधि प्राप्त करने के बाद उन्होंने सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ-विद्यानगर, गुजरात, से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। तदनन्तर वे प्रो० रामसुरेश त्रिपाठी के साथ 'वृहदारण्यक-उपनिषद्' पर उच्चतर शोधकार्य करती रहीं। साथ ही वे महिला महाविद्यालय (अ० मु० वि० वि०), अलीगढ़, में अध्यापन-कार्य भी करती रही हैं। विशेष रूप से संस्कृत-नाट्य का अध्यापन करते हुए छात्रों में रुचि उत्पन्न करने के लिए पाठ्यक्रम में कुछ हास्यरस-प्रधान प्रहसन भी होने चाहिए, ऐसा उन्हें अनुभव हुआ। इसी प्रेरणा से उन्होंने प्रस्तुत 'मत्तविलास-प्रहसन' का संस्करण सम्पादित किया है। पूर्व प्रकाशित संस्करणों से इस संस्करण में बहुत अधिक उपयोगी सामग्री दी गई है। पाठ-शुद्धि का भी विशेष ध्यान रखा गया है। अनुवाद में प्रत्येक शब्द का उचित अर्थ—एक या अनेक—देने का प्रयास किया गया है। कापालिक, जैन, बौद्ध सम्प्रदायों के दार्शनिक सन्दर्भ स्पष्ट करते हुए प्रहसन-काल में इन सम्प्रदायों में जो विकृतियाँ आगई थीं उन्हीं को लेकर हास्य रस कैसे पैदा किया गया है, यह भी लेखिका ने स्पष्टीकरण किया है। विद्वत्तापूर्ण 'भूमिका' तथा टिप्पणियों से इस संस्करण की उपयोगिता बढ़ गई है। लेखिका इसी प्रकार कार्य करके संस्कृत-विद्या के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त करें, यही मेरा शुभाशीर्वाद है।

—चिन्तामणि त्र्यम्बक केंघे

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ (उ०प्र०)
२५ सितम्बर, १९८८ ई०

प्राक्कथन

'मत्तविलास-प्रहसन' सातवीं शताब्दी के पल्लववंशीय राजा महेन्द्रविक्रमवर्मा द्वारा रचित शुद्ध कोटि का प्रहसन है। ऐतिहासिक व्यक्ति की रचना होने के कारण इस प्रहसन की ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ। इस प्रहसन का सरल हिन्दी अनुवाद तथा इसमें आए हुए बौद्ध, जैन व शैव धर्म से सम्बन्धित शब्दों की टिप्पणियाँ प्रस्तुत करने का यह मेरा एक प्रयासमात्र है। वस्तुतः, बोधायन के नाम पर प्रचलित किन्तु महेन्द्रविक्रमवर्मा द्वारा लिखित माने गए 'भगवदज्जुकीय-प्रहसन' और 'मत्तविलास-प्रहसन' के तुलनात्मक अध्ययन' पर, मैं आगे कार्य करने की इच्छुक हूँ।

स्व० प्रो० रामसुरेश त्रिपाठी, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जो मेरे छात्र-जीवन की आधारशिला रहे। उन्हीं की प्रेरणा और प्रोत्साहन के कारण मैं आज भी अध्ययन-कार्य में प्रवृत्त हूँ। प्रो० चिन्तामणि त्र्यम्बक केंघे के प्रति भी मैं अत्यधिक कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे उचित निर्देशन दिया। प्रस्तुत पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर उन्होंने मेरा जो उत्साह बढाया है उसके लिए मैं उनकी चिर-ऋणी रहूँगी। डा० श्रीरामुल राजेश्वर शर्मा, रीडर, संस्कृत-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, के प्रति भी मैं अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के रचयिता महेन्द्रविक्रमवर्मा के विषय में समय निर्धारण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण जानकारी दी, यत्र तत्र उपस्थित हुई अनेक कठिनाइयों एवं त्रुटियों को दूर किया और कई रचनात्मक सुझाव भी दिए।

श्रीमती लीलावती त्रिपाठी एवं श्रीमती सुलभा केंघे के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी मैं अपना परम-कर्तव्य समझती हूँ जो पुस्तक-लेखन के कार्य में मेरे लिए सतत् प्रेरणा का स्रोत बनी रहीं। डा० उमेशचन्द्र शर्मा के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़ने का कष्ट किया तथा कुछ सुझाव दिए। प्रियसखि डा० (श्रीमती) हितेष सिह ने लेखन कार्य में जो सहयोग मुझे दिया उसके लिए भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। अपने पति सैयद ज़ाहिद हसन के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने आर्थिक सहायता देकर इस पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग दिया।

अन्त में, सहृदय पाठकों से अनुरोध है कि इस पुस्तक की मुद्रण व अन्य त्रुटियों को लेखिका की प्रथम कृति समझकर क्षमा कर देंगे।

—रानी मजूमदार

संस्कृत विभाग,
महिला महाविद्यालय,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ (उ० प्र०)
२० सितम्बर, १९८८

संकेताक्षर-सूची

अभि० दर्पण	—	अभिनयदर्पण
अभि० भा०	—	अभिनवभारती
अष्टा०	—	अष्टाध्यायी
दश०	—	दशरूपक
ना० द०	—	नाट्यदर्पण
सा० द०	—	साहित्यदर्पण

भूमिका

संस्कृत काव्य

संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी आलंकारिकों ने काव्य के स्वरूप के विषय में अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। भामह, रुद्रट, वामन, विद्यानाथ आदि आचार्य शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हुए शब्द और अर्थ दोनों पर समान बल देते हैं। इन आचार्यों की काव्य-परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।' —भामह

'शब्दार्थौ काव्यम् ।' —रुद्रट

'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।' —वामन

गुणालकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ (काव्यम्) —विद्यानाथ

जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में काव्य-परिभाषा में दोष, लक्षण, रीति, गुण, अलंकार, रस, वृत्ति—इन सभी का समावेश किया है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥ (१.७)

आनन्दवर्धनाचार्य शब्द और अर्थ दोनों पर बल देते हैं परन्तु 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहकर ध्वनि (व्यंग्य) को काव्य की आत्मा मानते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादन कराने वाला शब्द ही काव्य है—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।'

दण्डी ने अपने काव्य अथवा काव्य-शरीर की परिभाषा में स्पष्टतः अर्थ की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल दिया है क्योंकि उनके अनुसार शब्द-समूह काव्य या काव्य-शरीर है। अर्थ की इष्टता उस शब्द-समूह के काव्यत्व की शर्त मात्र है—

'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।'

विश्वनाथ कविराज रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।'

परन्तु आज जो मत सर्वमान्य है वह है आचार्य मम्मट का काव्य लक्षण सम्बन्धी मत। उन्होंने अपनी काव्य परिभाषा में अन्य सभी मतों को यथोचित सम्मान दिया है। मम्मट के विचार में काव्य वे शब्द एवं अर्थ हैं जो दोषरहित परन्तु सगुण और कभी-कभी अलंकारों से भी रहित हो सकते हैं–

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

मम्मट ने यद्यपि काव्य में ध्वनि को प्राधान्य दिया है तथापि रस, अलंकार और रीति को भी काव्य में महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है।

अन्त में मम्मट के ही विचार से 'यह कृति जो नियति के रचित नियमों से आवद्ध नहीं है, जो आह्लाद से युक्त है, जो अन्य किसी कारण आदि के वशीभूत नहीं है, नव रसों से युक्त होने के कारण जिसकी रचना मनोहारिणी है, ऐसी कवियों की वाणी सदैव विजयी होती है'—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

काव्य के भेद

काव्य के मुख्य रूप से दो भेद हैं—

(१) श्रव्य काव्य (२) दृश्य काव्य

श्रव्य काव्य का आनन्द पढ़कर या सुनकर लिया जाता है। इसके पुनः तीन भेद होते हैं—गद्य-काव्य, पद्य-काव्य और चम्पू-काव्य। गद्य-काव्य के अन्तर्गत कथा और आख्यायिका, पद्य-काव्य के तन्तर्गत महा-काव्य, खण्ड-काव्य मुक्तक-काव्य और गीति-काव्य आदि तथा गद्य-पद्य-मयी रचनायें चम्पू-काव्य के अन्तर्गत आती हैं।

दृश्य-काव्य वे काव्य हैं जो नेत्रों के माध्यम से हृदय में प्रवेश करते हैं, अर्थात जो रङ्गमंच पर अभिनीत किए जाते हैं। इसी कारण श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य अधिक रमणीय होता है। कहा भी जाता है—

'काव्येषु नाटकं रम्यम्।'

दशरूपकार धनञ्जय नाट्य, रूप और रूपक—इन तीनों को दृश्य काव्य का पर्याय मानते हैं।

नाट्य—उनके अनुसार चार प्रकार के अभिनय (आङ्गिक, वाचिक, आहार्य

और सात्त्विक) के द्वारा अनुकार्य (राम आदि) के साथ नायक की अवस्थाओं का अनुकरण नाट्य कहलाता है—

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ।' १.७

रूप—दृश्य होने के कारण वह नाट्य रूप भी कहलाता है ।

'रूपं दृश्यतयोच्यते ।' १.८

जिस प्रकार दृश्य अर्थात् चाक्षुष ज्ञान का विषय होने के कारण नील, पीत, कृष्णादि रूप कहलाते हैं उसी प्रसार दृश्य होने के कारण नाट्य भी रूप कहलाता है ।

रूपक —आरोप किया जाने के कारण वह नाट्य रूपक कहलाता है ।

'रूपकं तत्समारोपात् ।' १.९

जिस प्रकार मुख में चन्द्रमा का आरोप किया जाने के कारण 'मुखचन्द्र' में रूपक अलंकार होता है उसी प्रकार नट में राम आदि की अवस्था (रूप) का आरोप होने के कारण नाट्य को भी रूपक कहते हैं ।

भरत मुनि के मतानुसार 'सुख-दुःख' समन्वित संसार का स्वभाव जब चार प्रकार के अभिनयों से अभिनीत होता है तो वही नाट्य कहलाता है ।

अभिनवगुप्त के मत में नाट्य लौकिक पदार्थों से भिन्न है; अनुकरणादि दस प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण है, सम्यक् मिथ्या-संशयादिक लौकिक ज्ञान से भिन्न है; आस्वाद-स्वरूप संवेदन-संवेद्य तथा रस-रूप है; और वह अलौकिक रसात्मक वस्तु है । (अभि० भा०, पृ० २६)

वे नाट्य को उपदेशपेरक मानते हैं । उनके अनुसार नाट्य रस-चर्वणात्मक होता है—

'रसचर्वणात्मकं परप्रीतिमयमेव नाट्यम् ।' (अभि० भा०, पृ० १०३)

और परमार्थतः रस ही नाट्य है—

'रस एव नाट्यम् ।'

पाणिनि ने नटों के धर्म या आम्नाय को नाट्य कहा है—

'नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम् ।' (अष्टा० ४.३.१२९)

नरेन्द्रविक्रम के मतानुसार—

'नटैर्यत् प्रदर्श्यते तन्नाट्यम् । तत्र नृत्यगीतादीनां प्रवेशो नास्ति ।'[1]

अर्थात् नटों के द्वारा जो प्रदर्शित किया जाता है तथा जिसमें नृत्त गीतादि का समावेश नहीं होता है वह नाट्य कहलाता है। परन्तु महिमभट्ट ने नाट्य में गीत का प्रयोग स्वीकार किया है। उनके मत में नाट्य 'वाक्यार्थाभिनयात्मक' तथा रसाश्रय होता है।[2] नन्दिकेश्वर के मतानुसार आदर्श पूर्वकथा के अभिनय को नाट्य कहते हैं।[3] वे नाट्य की प्रतिष्ठा सत्त्व में मानते हैं—

'सत्त्वे नाट्यम् प्रतिष्ठितम् ।' (अभि० दर्पण, १५)

नाट्य का मुख्य धर्म है—कथनोपकथन; आचार्यों की मान्यता है कि कथनोपकथन के बिना अनुकृति अधूरी होगी; इसलिए नाट्य में वाचिकाभिनय का विशेष महत्त्व है।[४]

नाटक का उद्भव

नाटक की उत्पत्ति कब और कैसे हुई यह संस्कृत साहित्य का एक विवादास्पद विषय है। आदि काल से ही मानव हृदय में अनुकरण की प्रवृत्ति रही और उसका काल-क्रम से विकास होकर नाटक के रूप में उसकी परिणति हुई यह पौराणिक मान्यता है। 'ऋग्वेद' में यम-यमी संवाद (१०.१०) पुरूरवा-उर्वशी संवाद (१०.१५), अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद (४.१७९) और विश्वामित्र-नदी संवाद (३.३३) आदि नाटक के बीज माने जाते हैं। 'रामायण' में भी नट, नर्तक, नाटक, रङ्ग एवं कुशीलव आदि का प्रयोग और 'महाभारत' में रङ्गशाला, नट आदि का उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि नाटकों का विकास अवश्य होने लगा था। भारतीय परम्परा नाटक को पंचम वेद ही मानती है और इसका साक्षात् प्रमाण है—भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'।

१. उद्धृत—वाचस्पति गैरोला, 'भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनय-दर्पण,' पृ० ७६
२. वही, पृ० ७७
३. अभि० दर्पण, १५
४. वाचस्पति गैरोला, 'भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण', पृ० ८०

इसके प्रथम अध्याय में ही नाटक की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि त्रेता युग में ब्रह्मा द्वारा नाटक की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने 'ऋग्वेद' से पाठ्य 'सामवेद' से गान, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्ववेद' से रस इन चार तत्त्वों को ग्रहण किया—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनेयान् रसानाथर्वणादपि ॥

ब्रह्मा की प्रेरणा से विश्वकर्मा ने नाट्यगृह की रचना की और भरतमुनि ने अभिनय की व्यवस्था की। भरत ने अपने सौ शिष्यों और अप्सराओं को नाट्य कला की शिक्षा दी। इस नाट्य कला को पूर्ण करने के लिए शिव ने नाट्य के साथ ताण्डव, पार्वती ने लास्य नृत्य और विष्णु ने नाट्य रीति प्रदान की। इस प्रकार भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन कर नर लोक में नाट्य का प्रचार किया।

शुभङ्करकृत 'सङ्गीतदामोदर' में नाटक की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि—प्राचीन काल में इन्द्र के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर ब्रह्मा ने वेदों से आकर्षण कर पञ्चम नाट्य वेद को बनाया ऐसा सुना जाता है। स्मृति में चार वेद और एक उपवेद कहे गये हैं। उनमें शिव ने ब्रह्मा को गन्धर्व-वेद (नाट्यवेद) उपवेद बताया। ब्रह्मा ने भरत को बताया और भरत के द्वारा उसका मर्त्यलोक में प्रचार किया गया। अतः शिव, ब्रह्मा और भरत इस नाट्यवेद के प्रयोजक माने गये हैं—

इहानुश्रूयते ब्रह्मा शक्रेणाभ्यर्थितः पुरा।
चकाराऽकृष्य वेदेभ्यो नाट्यवेदं तु पञ्चमम् ॥
उपवेदोऽथ वेदाश्च चत्वारः कथिताः स्मृतौ।
तत्रोपवेदो गान्धर्वः शिवेनोक्तः स्वयम्भुवे ॥
तेनाऽपि भरतायोक्तस्तेन मर्त्ये प्रचारितः।
शिवाऽब्जयोनिभरतास्तस्मादस्य प्रयोजकाः ॥

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन समय से लेकर वेद-शास्त्र और 'रामायण' 'महाभारत' आदि से नाटक की स्वतन्त्र रूप से उत्पत्ति प्रमाणित होती है।

रूपक के भेद

धनंजय के अनुसार रसों पर आश्रित रूपक दस प्रकार के होते हैं—
'दशधैव रसाश्रयम्'।

धनञ्जय रूपकों के भेद को एक और स्वरूप देते हैं—(१) शुद्ध रूपक और (२) संकीर्ण रूपक।

वस्तु, नेता और रस के आधार पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले दस रूपक ही शुद्ध रूपक हैं। इनमें से दो या तीन रूपकों के कतिपय लक्षणों का मिश्रण जिस रूपक में पाया जाता है वह रूपक का संकीर्ण भेद है जैसे नाटक और प्रकरण के लक्षणों का संकर होने के कारण नाटिका संकीर्ण रूपक है। कुछ व्याख्याकारों ने नाटिका और प्रकरणिका दोनों को पृथक् पृथक् संकीर्ण रूपक माना है (ना०द० १.३)। लेकिन धनिक ने इस मत का खण्डन करके नाटिका और प्रकरणिका को रूपकों में जोड़कर बारह रूप मान लिये हैं।

'दशरूपक' में शुद्ध रूपकों का वर्णन इस प्रकार है—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ (१.८)

अर्थात् नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग।

संस्कृत साहित्य में प्रहसन

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, प्रहसन का विषय मुख्य रूप से हास्य ही होता है—'प्रकृष्टं हसत्यनेनेति प्रहसनम्।' संस्कृत साहित्य के इतिहास में प्रहसन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने समय-समय पर प्रहसन की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। धनञ्जय के मतानुसार प्रहसन नामक रूपक भेद वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, अङ्क तथा लास्यादि में भाण की तरह होता है—

'भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः।' (दश० ३)

प्रहसन की कथावस्तु कल्पित होती है, एक या दो अङ्क होते हैं, धूर्त, पाखण्डी विप्र तथा कामुक आदि पात्र होते हैं; इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते हैं; इसमें अधिकतर भारती वृत्ति होती है; इसका अङ्गी रस हास्य होता है और लास्य के दस अङ्गों का प्रयोग होता है।

यह प्रहसन तीन प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) विकृत और (३) सङ्कर

'तद्वत्प्रहसनम् त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः' ।

शुद्ध प्रहसन पाखण्डी, विप्र, चेट, चेटी और विट आदि पात्रों से युक्त होता है उनके आचरण, वेष तथा भाषा से युक्त होता है तथा इनमें कथनोपकथन हास्य-युक्त होता है--

पाखण्डिविप्रप्रभृति चेटचेटीविटाकुलम् ।
चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ॥ (दश० ३.५४)

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ नायक धृष्ट होता है वह हास्य-विषयक प्रहसन शुद्ध कहलाता है--

'एको यत्र भवेद् धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ।' (सा०द० ६.२६६)
जैसे—'कन्दर्पकेलि' ।

शुद्ध प्रहसन में तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मण श्रेणी के व्यक्तियों में से किसी एक श्रेणी के व्यक्ति को धृष्ट नायक के रूप में चित्रित किया जाता है और जिसमें हास्य रस प्रमुख होता है ।

विकृत प्रहसन कामुक आदि की भाषा और वेष को धारण करने वाले नपुंसक, कञ्चुकी तथा तपस्त्री आदि पात्रों से युक्त होता है—

'कामुकादिवचोवेषैः षण्डकञ्चुकितापसैः विकृतम् ।' (दश०३.५५)

संकीर्ण प्रहसन वीथी के अङ्गों से मिश्रित तथा धूर्तों से भरा हुआ होता है—

'सङ्कराद् वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।' (दश० ३.५६)

परन्तु जहाँ एक ओर कुछ आचार्य प्रहसन के तीन भेद मानते हैं, दूसरी ओर भरतमुनि, नाट्यदर्पणकार अभिनवगुप्त आदि प्रहसन के शुद्ध और सङ्कीर्ण ये दो ही भेद मानते हैं । भरतमुनि के अनुसार विकृत नामक प्रहसन का सङ्कीर्ण में ही अन्तर्भाव हो जाता है —

'इदं (विकृतं) तु सङ्कीर्णेनैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ् नोक्तम् ।'
(सा० द० ६०)

हास्य के भेद

प्रहसन हास्य-रस प्रधान होता है । अतः प्रहसन के भेदों का निरूपण करने के पश्चात् हास्य के भेदों को भी स्पष्ट करना युक्तिसङ्गत होगा ।

पण्डितराज जगन्नाथ और धनञ्जय के अनुसार हास्य रस दो प्रकार का होता है—

(१) आत्मस्थ, (२) परस्थ।

आत्मस्थ 'अपने' विकृत वेष-भाषा आदि विभावों का आलम्बन करके उत्पन्न होने वाला हास है, और 'परस्थ' (दूसरे) के विकृत वेष तथा भाषा आदि विभावों का आलम्बन करके उत्पन्न होने वाला हास है—

'विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।'

(दश० ४.७५)

यह हास उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति का होने से छः प्रकार का हो जाता है—(१) आत्मस्थ उत्तम प्रकृति, (२) आत्मस्थ मध्यम प्रकृति, (३) आत्मस्थ अधम प्रकृति, (४) परस्थ उत्तम प्रकृति, (५) परस्थ मध्यम प्रकृति, (६) परस्थ अधम प्रकृति।

इस हास के पुनः छः भेद और होते हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित, और (६) अतिहसित।

'स्मित' हास में केवल नेत्र विकसित होते हैं। 'हसित' में दाँत कुछ-कुछ दिखाई देते हैं। 'विहसित' में मधुर स्वर होता है। मधुर स्वर (विहसित) जब सिर हिलाने के साथ होता है तो 'उपहसित' कहलाता है। 'अपहसित' वह है जिसमें नेत्र अश्रुयुक्त हो जाते हैं और 'अतिहसित' में अङ्गों को इधर-उधर पटका जाता है—

स्मितमिह विकासनयनं किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्।
मधुरस्वरं विहसितं सशिरःकम्पमिदमुपहसितम्॥ ७६॥
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः॥ ७७॥

(दश० ४)

इनमें से दो दो उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के हुआ करते हैं, अर्थात् स्मित और हसित उत्तम जन को, विहसित और उपहसित मध्यम जन को और अपहसित तथा अतिहसित अधम जन को हुआ करते हैं।

इस प्रकार प्रहसन में हास्य के छः भेदों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाना चाहिए—

'रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव च ।' (दश० ३ ५६)

काव्यशास्त्रियों द्वारा दी गई प्रहसन को विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत में समय-समय पर प्रहसन अवश्य लिखे गए होंगे। 'कन्दर्पकेलि', 'सागर-कौमुदी', 'केलिकेलि', 'हास्यार्णव', 'धूर्तचरितम्', 'सैरन्ध्रिका', 'लटकमेलकम्', 'भगवदज्जुकीयम्', 'मत्तविलास', 'धूर्तसमागम', 'कौतुकरत्नाकर', 'धूर्तनर्तक', 'डमरुक' और 'कौतुकसर्वस्व' आदि प्रहसन संस्कृत साहित्य में लिखे गए परन्तु इनमें से कुछ प्रहसन ही अंशतः या पूर्णरूप से उपलब्ध होते हैं।

संस्कृत साहित्य के प्रहसनों में एक मार्मिक व्यंग्य होने के कारण उनकी बड़ी ख्याति और लोकप्रियता भी रही है। उनमें यद्यपि अश्लीलता भी कहीं-कहीं दिखाई देती है, किन्तु चार्वाक, जैन, बौद्ध, कापालिक आदि वेद विरोधी धर्मानुयायियों के प्रति उनमें जो आक्षेप किए गए हैं, वे बड़े ही मार्मिक हैं।[५]

महेन्द्रविक्रमवर्मा और 'मत्तविलास'

महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री द्वारा १९१७ ई० में 'त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़' में प्रकाशित पल्लववंशीय राजा महेन्द्रविक्रमवर्मा द्वारा रचित 'मत्तविलास' प्रहसन संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम प्रहसन माना जाता है। बोधायनकृत 'भगवदज्जुकीय' प्रहसन का उल्लेख मामण्डूर शिलालेख में मिलता है—

"……गवदज्जुकमत्तविलासादि……"

इस कारण से कुछ विद्वान् इस प्रहसन को भी राजा की ही रचना मानते हैं।

कवि का समय

सातवीं शताब्दी के राजनैतिक इतिहास के विषय में जितनी अधिक जानकारी उपलब्ध है, उतनी उसके पहले की शताब्दियों के इतिहास की नहीं है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तरी भारत पर अधिकांशतः स्थाण्वीश्वर के गौरवशाली राजा हर्षवर्धन का प्रभुत्व था (६०६ ई०-६४७ ई०)। नर्मदा के

---

५. वाचस्पति गैरोला, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ८२२।

दक्षिण में महाराष्ट्र और कर्नाटक के प्रान्तों पर शक्तिशाली चालुक्यवंशीय राजाओं का और सुदूर दक्षिण में कावेरी तट तक उतने ही प्रभावशाली पल्लववंश के राजाओं का अधिकार था। चालुक्यवंशीय राजा पुलकेशी द्वितीय ने अपनी शक्तिशाली सेना की सहायता से नर्मदा नदी के पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक अपना राज्य फैला लिया था। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी हर्षवर्धन की सेना को दक्षिण की ओर बढ़ने से रोक दिया था, जैसा कि ऐहोल शिलालेख में उल्लेख मिलता है—

'भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः।' २३

और दक्षिण में, पुलकेशी द्वितीय ने ही अपने दूसरे प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी पल्लववंशीय राजा महेन्द्रविक्रमवर्मा को परास्त करके उसे उसकी राजधानी काञ्चीपुरी की चारदीवारी के भीतर कर दिया—

उद्धूतामलचामरध्वजशतछत्रान्धकारैर्बलैः
शौर्योत्साहरसोद्धतारिमथनैर्मौलादिभिः षड्विधैः।
आक्रान्तात्मबलोन्नतिं बलरजः सञ्छन्नकाञ्चीपुर-
प्राकारान्तरितप्रतापमकरोद्यः पल्लवानां पतिम्[6]॥ २९

आकर्षक बात यह है कि इन तीनों ही राजाओं की साहित्य की ओर विशेष रुचि रही। हर्षवर्धन तीन रूपकों—'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानन्द' के रचयिता हैं, यह सभी को ज्ञात है; महेन्द्रविक्रमवर्मा ने 'मत्तविलास' प्रहसन और सम्भवतः 'भगवदज्जुकीय' प्रहसनों की रचना की। पुलकेशी द्वितीय की लिखी कोई रचना उपलब्ध नहीं है परन्तु उसकी विकटनितम्बा नामक पुत्रवधू ने कई रमणीय सुभाषित लिखे।

इस प्रकार पुलकेशी द्वितीय के एहोल शिलालेख के आधार पर महेन्द्रविक्रमवर्मा का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित होता है। पुलकेशी द्वितीय का समय ६०९ ई० से लेकर ६४२ ई० के लगभग माना गया है। पुनः महेन्द्रविक्रमवर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंहवर्मा प्रथम राज्य का उत्तराधिकारी बना और उसने ६३० ई० से ६६८ ई० तक राज्य किया।

'मत्तविलास' प्रहसन की प्रस्तावना में सूत्रधार के कथनानुसार महेन्द्रविक्रमवर्मा, पल्लववंशीय राजा सिंहविष्णुवर्मा के पुत्र

6. *Aihole Stone Inscription of Pulakesin II.*

थे।[७] सिंहविष्णुवर्मा का शासन-काल ५७५ ई० से ६०० ई० तक माना जाता है। महेन्द्रविक्रमवर्मा अपने पिता के पश्चात् सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। अतः महेन्द्रविक्रमवर्मा का समय ६०० ई० से लेकर ६३० ई० तक मानना ही उचित है।

इस प्रकार वाह्य और अन्तः प्रमाणों के आधार पर महेन्द्रविक्रमवर्मा का समय सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ ही निर्धारित होता है।

जीवन-चरित

किम्वदन्ती के अनुसार महेन्द्रविक्रमवर्मा प्रारम्भ में जैन धर्मानुयायी थे और बाद में उन्होंने शैव धर्म स्वीकार कर लिया था। 'पेरीयपुराणम्' में उपलब्ध विवरण के अनुसार तिरुणावुक्करशु नामक एक अप्पार (साधु), जो स्वयं जैन धर्म के अत्याचारों से पीड़ित होने के कारण शैव हो गया था, उसने अपनी चमत्कारिणी शक्ति के द्वारा महेन्द्रविक्रमवर्मा को शैवधर्मानुयायी वना दिया। इस वात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि इस राजा के द्वारा निर्मित अनेक शिव मन्दिर बल्लम (चिंगलपेट), महेन्द्रवाड़ी (उत्तर अरकोट) दड़वानूर (दक्षिण अरकोट), शिय्यमङ्गलम् और पल्लावरम् में हैं। सम्भवतः इसी राजा ने जो विभिन्न मन्दिर वनवाए उनके स्तम्भों और दीवारों पर तत्कालीन शासनरत राजाओं की विभिन्न उपाधिओं को खुदवाने की प्रथा प्रारम्भ की थी। उन उपाधिओं में महेन्द्रविक्रमवर्मा के लिए प्रयुक्त ये उपनाम भी मिलते हैं--गुणभर, पुरुषोत्तम, सत्यस्यन्द, अवनिभाजन, विचित्रचित्त, नरेन्द्र, ललिताङ्कुर, शत्रुमल्ल इत्यादि।[८] परन्तु शैव होने पर भी इस राजा की अन्य धर्मों के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। इस तथ्य की पुष्टि महेन्द्रवाड़ी में महेन्द्रतड़ाग के किनारे पर चट्टानों को काटकर महेन्द्रविक्रमवर्मा द्वारा वनावाए गए महेन्द्रविष्णुगृह नाम के विष्णुमन्दिर से होती हैं।[९] पुनः इस राजा के विषय में प्राप्त मड्डगपट्टु (तमिलनाडु) अभिलेख इस ओर संकेत

---

७. पल्लवकुलधरणिमण्डलकुलपर्वतस्य सर्वनयविजितसमस्तसामन्तमण्डलस्य आखण्डलसमपराक्रमश्रियः श्रीमहिमानुरूपदानविभूतिपरिभूतराजराजस्य श्रीसिंहविष्णुवर्मणः पुत्रः शत्रुषड्वर्गनिग्रहपरः परहितपरतन्त्रतया महाभूतसधर्मा महाराजः श्रीविक्रमवर्मा नाम।

8. R Gopalan, *History of the Pallavas of Kanchi*, p. 90.

9. *Ibid.*, p, 90.

करता है कि राजा विचित्रचित्त ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश का भी एक मन्दिर बनवाया था।[१०] यह मन्दिर ईंट, काष्ठ, लोहा, चूने आदि के विना ही बना था। स्पष्ट रूप से यह चट्टानों को काटकर बनाए गए मन्दिरों का संकेत करता है जिनका कि महाबलिपुरम् में महेन्द्रविक्रमवर्मा के उत्तरवर्ती राजाओं नृसिंह व महामल्ल के समय तक पूर्ण विकास हो चुका था।

महेन्द्रविक्रमवर्मा एक प्रभावशाली और सुयोग्य शासक था। वह उच्च-कोटि का विद्वान् और संस्कृत साहित्य का एक मर्मज्ञ कवि भी था। सङ्गीत के प्रति उसकी विशेष रुचि थी। 'मत्तविलास' प्रहसन में आए विभिन्न सन्दर्भ उसके नाना प्रकार के गुणों का संकेत करते हैं;[११] प्रज्ञा, दान, दया, अनुभाव, धृति, कान्ति, कलाकौशल, सत्य, पराक्रम, निष्कपटता, विनय इत्यादि गुण महेन्द्रविक्रमवर्मा की शरण में वैसे ही चले गये जैसे कि प्रलयकाल में सभी सृष्टियाँ जगत् के आदि-पुरुष की शरण में चली जाती हैं।[१२] वह अपने राज्य में सभी प्रकार की कविताओं का आदर किया करता था। सज्जनों की अल्पसार वाली कविताओं का भी वह सम्मान करता था।[१३] इन्हीं गुणों के कारण वह 'गुणभर' अर्थात् गुणियों का भरण करने वाला था। माना जाता है कि वह संगीतज्ञ भी था और 'दक्षिणचित्र' नामक संगीत विषयक ग्रन्थ की भी रचना उसने की थी,[१४] परन्तु वह उपलब्ध नहीं है। उसके राज्य-काल में काञ्चीपुरी पूर्ण रूप से समृद्धि और भोग-विलास से परिपूर्ण थी।[१५]

---

१०. एतदनिष्टकमद्रुममलोहमसुधं विचित्रचित्तेन।
निर्मापितं नृपेण ब्रह्मेश्वरविष्णुलक्षितायतनम्॥

११. ....शत्रुषड्वर्गनिग्रहपरः परहितपरतन्त्रतया महाभूतसधर्मा...... ।

१२. प्रज्ञादानदयानुभावधृतयः कान्तिकलाकौशलं
सत्यं शौर्यममायताविनय इत्येवम्प्रकारा गुणाः।
अप्राप्तस्थितयः समेत्य शरणं याता यमेकं कलौ
कल्पान्ते जगदादिमादिपुरुषं सर्गप्रभेदा इव॥३॥

१३. आकरे सूक्तिरत्नानां यस्मिन् गुणगरीयसाम्।
अर्घन्ति बहुसूक्तानि सतां सारलघून्यपि॥४॥

14. R. Gopalan, *History of the Pallavas of South India*, p. 93.

१५ अहो नु खलु विमानशिखरविश्रान्तघनरसितसन्दिग्धमृदङ्गशब्दस्य मधुसमयनिर्माणमातृकायमाणमाल्यापणस्य कुसुमशरविजयघोषणायमानवर-युवतिकाञ्चीरवस्य काञ्चीपुरस्य परा विभूतिः।

'मत्तविलास' में दार्शनिक सम्बन्ध

महेन्द्रविक्रमवर्मा ने 'मत्तविलास' में तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का सजीव चित्रण किया है। गुप्तकालीन धार्मिक सहिष्णुता के स्थान पर धार्मिक ईर्ष्या द्वेष जन्म ले रहा था। शैव धर्म के सम्प्रदायों में कापालिक तथा पाशुपत जैसे सम्प्रदाय हो गए थे। बौद्ध धर्म प्रमुख रूप से ह्रासोन्मुख हो चुका था। सभी वेदान्तियों और नैय्यायिकों ने दृढ रूप से बौद्धों के मत का खण्डन किया। बौद्ध धर्म व जैन धर्म में जो कुरीतियाँ थीं उनको हास्य के माध्यम से कवि ने इस प्रहसन में प्रस्तुत किया है। इस प्रहसन में शाक्य-भिक्षु नागसेन है। इस पात्र का नाम नागसेन सम्भवतः व्यंग्य को प्रदर्शित करने के लिए ही रखा गया है। नागसेन 'मिलिन्दपञ्हो' (राजा मिलिन्द के प्रश्न) का एक बहुत बड़ा बुद्धिमान् दार्शनिक है। प्रस्तुत प्रहसन में नागसेन के चरित्र को भ्रष्ट रूप में दिखाते हुए कवि ने 'मिलिन्दपञ्हो' के नागसेन का अनादर कर दिया है।

बौद्ध धर्म में अनेक कुरीतियाँ आ गईं थीं। बौद्ध मठ और राज-विहार भोग-विलास के स्थल बन गए थे। बुद्ध ने संघ के लिए महलों में रहना, सुन्दर गद्दे वाले पलँगों पर सोना, दिन के पहले पहर खाना, दूसरे पहर मधुर पेय पीना, पाँच सुगन्धों से युक्त पान खाना, महीन वस्त्र पहनना आदि[१६]—इन सब की अनुमति दी थी। अतः नागसेन कहता है कि जब बुद्ध ने इन सबका अनुमोदन किया तो स्त्री-सहवास और मद्यपान की अनुमति ही क्यों नहीं दी? उसके विचार से बुद्ध ने अवश्य ही इन दोनों का भी विधान किया होगा, लेकिन वृद्ध लोगों ने इन युवकों के प्रति ईर्ष्या के कारण कहीं छिपा दिया होगा। काल्पनिक के साथ कलह में जब देवसोमा नागसेन को मदिरा देती है तो वह उसे परम सौभाग्य मानता है; परन्तु उसे बड़े लोगों के द्वारा देखने का डर है।[१७] इससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध भिक्षु लोगों की

---

१६. भोः ! परमकारुणिएण भअवदा तहागएण पासादेसु वासो, सुविहिअसय्येसु पज्जङ्केसु सअणं, पुव्वण्हे भोअणं, अवरण्हे सुरसाणि पाणआणि, पञ्चसुगन्धव्वोहिअं तम्बोल्लं, सण्हवसणपरिधाणं ति एदेहि उवदेसेहि भिक्खुसङ्घस्स अणुग्गहं करन्तेण किण्णुहु इत्थि आपरिग्गहो सुरावाणविहाणं च ण दिट्ठं।

१७. अहो सुहोवण दो अब्भुदओ। एत्तओ दोसो-महाजणो पेक्खिस्सदि।

दृष्टि से बचकर मदिरा पान भी कर लेते थे। शाक्य भिक्षु नागसेन ने बुद्ध के कुछ शिक्षा पद जैसे न दी गई वस्तु को न लेना, झूठ न बोलना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, जीवहिंसा न करना, असमय में भोजन न करना आदि[१८] कण्ठस्थ कर लिए हैं और कापालिक व पाशुपत आदि के समक्ष स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए बुद्ध के इन उपदेशों की पुनरावृत्ति करता है। कापालिक बौद्ध धर्म पर कटाक्ष करते हुये कहता है कि बुद्ध तो चोरशास्त्र के प्रणेता खरपट से भी बढ़कर हैं[१९] क्योंकि उन्होंने वेदान्तों और 'महाभारत' से ही तत्त्वों को चुराकर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है।[२०] कापालिक नागसेन को 'माया की सन्तान'[२१] कहकर बुद्ध के मायावाद की ओर भी संकेत करता है। बौद्ध धर्म के अनुसार इस जगत् की सत्ता सांपृतिक है, परमार्थिक नहीं। इस संसार में स्थित सभी वस्तुएँ जैसे, पृथ्वी, समुद्र, पर्वत इत्यादि माया के कारण ही दिखाई देती हैं,[२२] वास्तव में इनका अस्तित्व नहीं है। सब कुछ शून्य है।

कपाली सत्यसोम कापालिक सम्प्रदाय का है। कापालिक के लिए कपाल का रखना, अपने शरीर को भस्म-रज से मलना आदि आवश्यक था। कापालिक सम्प्रदाय के अनुसार मदिरापान करना, प्रिया का सहवास और विकृत वेष धारण करना—ये सब मोक्ष की ओर ले जाते हैं क्योंकि ऐसे मार्ग के प्रवर्तक भगवान् शिव ही हैं; अर्थात् भगवान् शिव ने ही मोक्ष के मार्ग का यह उपाय बताया है।[२३] लेकिन जैन लोग मोक्ष के मार्ग का अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं। उनके अनुसार तपश्चर्या आदि शारीरिक कष्टों से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। लेकिन कापालिक उनके इस मत का खण्डन करते

---

१८. अदिण्णादाणा वेरमणं सिक्खापदं। मुधावादा वेरमणं सिक्खापदं। अब्बह्म-चय्या वेरमणं पाणादिपादा वेरमणं सिक्खापदं। अकालभोअणा वेरमणं सिक्खापदं।

१९. खरपटादप्यस्मिन्नधिकारे बुद्ध एवाधिकः।

२०. वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि।
विप्राणां मिषतामेव कृतवान् कोशसञ्चयम् ॥१२॥

२१. ननु मायासन्तानसम्भवाः खलु भवन्तः।

२२. दृष्टानि वस्तूनि महीसमुद्रमहीधरादीनि महान्ति मोहात्।
अपह्नुवानस्य सुतः कथं त्वमल्पं न निह्नोतुमन्लं कपालम् ॥१३॥

२३. पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ॥७॥

हुए कहता है कि एक ओर तो ये जैन लोग यह कहते हैं कि कार्य अपने कारण के सरूप होता है और दूसरी ओर ये दुःखरूप कारण से सुखरूपी कार्य की उत्पत्ति होती है, यह कहते हैं।[२४] अर्थात् वे काम क्लेश पर जोर देते हैं और मानते हैं कि तप आदि कष्टों से मोक्षरूपी सुख प्राप्त होता है। कापालिक का कथन है कि दुःख से सुख की उत्पत्ति असम्भव है क्योंकि दुःख और सुख दोनों विरोधी तत्त्व हैं।

जैन धर्मानुयायियों के लिए भी ये कुछ नियम निर्धारित हैं, जैसे कि ब्रह्मचर्य का पालन, बालों को एक-एक करके उखाड़ना, मल धारण करना, भोजन के समय का नियम (सूर्यास्त से पहले ही खाना), मलिन वस्त्र धारण करना इत्यादि।[२५]

इस प्रकार बौद्ध धर्म, जैन धर्म और कापालिक सम्प्रदाय के कुछ दार्शनिक तत्त्वों का उल्लेख इस प्रहसन से प्राप्त होता है।

कथा-वस्तु

'मत्तविलास' की कथा इस प्रकार है—सत्यसोम नाम का कापालिक देवसोमा नाम की युवती के साथ मद्यपान करते हुए काञ्चीपुरी के मार्ग पर घूमता है और देवसोमा के सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। नशे की अवस्था में वह देवसोमा के नाम का उच्चारण भी गलत करता है और इस कारण से फिर से मद्यपान न करने का निर्णय करता है, परन्तु देवसोमा उसे ऐसा करने से रोकती है। कापालिक प्रसन्न होता है और कापालिक धर्म के प्रवर्तक शिव की स्तुति करता है जिन्होंने सुरापान और स्त्रीसहवास आदि को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया है। परन्तु जब देवसोमा जैनों के मत का पार्थक्य बताती है तो कापालिक उनके दर्शन को झूठा बताता है कि वे दुःख रूपी कारण से सुख रूपी कार्य की उत्पत्ति होती है ऐसा कहते हैं जो असंभव है। पुनः जैनों का नाम लेने से अपवित्र हुई जिह्वा के प्रक्षालन के लिए पुनः मदिरा पीने के लिए मदिरा की दुकान पर जाते हैं लेकिन

---

२४. कार्यस्य निःसंशयमात्महेतोः सरूपतां हेतुभिरभ्युपेत्य।
दुःखस्य कार्यं सुखमामनन्तः स्वेनैव वाक्येन हता वराकाः॥८॥

२५. ये ब्रह्मचर्य-केशनिर्लोटन-मलधारण-भोजनवेलानियम-मलिनपट-परिधानादिभिः प्राणिनः परिक्लेशयन्ति।

वहाँ कापालिक को उसका भिक्षापात्र (कपाल) नहीं मिलता। वह संदेह करता है कि शायद माँसपिंड से युक्त होने के कारण उसके कपाल को किसी कुत्ते अथवा शाक्यभिक्षु ने ले लिया होगा। अतः कपाली आपद्धर्म को प्रमाण मानकर गोश्रृङ्ग से मदिरा ले लेता है। फिर वे दोनों कपाल ढूँढ़ने काञ्ची-पुरी में घूमते हैं।

इसी समय नागसेन नामक शाक्यभिक्षु अपना भिक्षापात्र लेकर वस्त्रों के भीतर छिपाकर प्रवेश करता है। वह एक दयालु उपासक सेठ धनदास के घर से मत्स्य-माँस से युक्त अत्युत्तम भोजन लेकर राजविहार की ओर जाता है। तभी देवसोमा उसकी ओर संकेत करती है कि वह अंगों को सिकोड़ कर भयभीत-सा जारहा है। नागसेन कापालिक को पहचान कर बचना चाहता है परन्तु वह पकड़ा जाता है। कापालिक उसके भिक्षापात्र को देखना चाहता है। नागसेन देवसोमा को ललचाई दृष्टि से देखता है। कापालिक के पूछने पर नागसेन कहता है कि बुद्ध के उपदेशानुसार भिक्षापात्र ढक कर ही ले जाना चाहिए। देवसोमा कापालिक से कहती है कि उसे मदिरा पीकर शक्ति अर्जित करके शाक्तभिक्षु से विवाद करना चाहिए। कापालिक मदिरा पीता है और नागसेन को भी मदिरा देने के लिए देवसोमा से कहता है। फिर दोनों में झगड़ा होता है। कापालिक बलपूर्वक नागसेन मे भिक्षापात्र छीनता है पर नागसेन के धक्का दिये जाने पर गिर जाता है। नागसेन के बालों को खींचने पर (सिर पर बाल न होने के कारण) देवसोमा भी गिर जाती है। नागसेन उसे पकड़ कर उठाता है तो कापालिक चिल्लाता है कि वह उसकी प्रिया का हाथ पकड़ रहा है।

इसी अवसर पर बभ्रुकल्प नामक पाशुपत प्रवेश करता है और पूछने पर कापालिक घटना बताता है। बभ्रुकल्प देवसोमा को देखता है जो कि उसकी कुटनी थी और जिसको कापालिक ले गया था। अतः बदला लेने के लिए वह शत्रुपक्ष को उत्तेजित करने का निश्चय करता है। तभी नागसेन बौद्ध धर्म के उपदेशों को बताता है। अन्ततोगत्वा, उसे अपना भिक्षापात्र दिखाना ही पड़ता है। कापालिक उसे देखकर प्रसन्न होता है। परन्तु पात्र को काले वर्ण का देखकर कापालिक कहता हैं कि रंग बदलने में तो वह सिद्धहस्त है ही जैसे कि उसने अपने सफेद कपड़े लाल रंग (गेरुआ) में रंग दिये हैं। अन्त में कोई निर्णय न होने पर बभ्रुकल्प उन दोनों को

न्यायालय में जाने के लिए कहता है, परन्तु देवसोमा कहती है कि तब तो कापालिक हार जाएगा क्योंकि धनी बौद्ध वरिष्ठ न्यायकर्ताओं को रिश्वत (प्रलोभन) देकर अपने पक्ष में कर लेगा। वभ्रुकल्प उनकी शङ्का को दूर करता है और न्याय दिलाने के लिए आश्वासन देता है।

इसी क्षण एक पागल व्यक्ति हाथ में कापालिक के ही कपाल को लिए प्रवेश करता है, जिसे उसने एक पागल कुत्ते से प्राप्त किया था। वह उसे पाशुपत वभ्रुकल्प को देता है। तभी कापालिक अपने पात्र को पहचान लेता है और लेना चाहता है, परन्तु तभी वह पागल उस कपाल को लेकर भागता है और कापालिक के कहने पर सब उसे पकड़ लेते हैं। तब वह उस कपाल को देकर चला जाता है।

सब प्रसन्न होते हैं। कापालिक नागसेन से क्षमा माँगता है और भरत-वाक्य के साथ प्रहसन समाप्त होता है।

'मत्तविलास' में हास्य-रस

'मत्तविलास' एक शुद्ध कोटि का प्रहसन है। प्रहसन होने के कारण यह हास्य-रस प्रधान है। संस्कृत नाटकों में हास्य रस की सृष्टि के लिए विदूषक की योजना की जाती है। परन्तु प्रहसन में सभी पात्रों की योजना हास्य रस के लिए ही होती है। रूपकों में कोई सामान्य व्यक्ति यदि विकृत आकृति वेष-भूषा और विकृत अनुकरण आदि करे तो उतनी हँसी नहीं आती जितनी सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित ब्राह्मण, पण्डित, भिक्षु आदि की विकृत चेष्टाओं जैसे फिसलना, गिरना, नाचना आदि देखकर आती है। इसीलिए विदूषक भी ब्राह्मण होता है और प्रहसन के पात्र भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के पाखण्डी ब्राह्मण, भिक्षु आदि ही होते है। वास्तव में मानव जीवन में विपरीतता या विषमता ही हास्य रस को उत्पन्न करती है।

यह हास्य रस कई प्रकार का होता है। कहीं पात्रों की विचित्र वेष-भूषा के माध्यम से, कहीं अभिनय द्वारा, कहीं घटना के माध्यम से तो कहीं विचित्र प्रसङ्ग के आधार पर हास्य रस की सर्जना होती है।

'मत्तविलास' की कथा केवल एक भिक्षा पात्र पर आधारित है और यह प्रारम्भ से अन्त तक हास्यपूर्ण है। सूत्रधार ने अपनी छोटी पत्नी के साथ बहुत दिनों तक रमण किया जिसके फलस्वरूप उसकी बड़ी पत्नी क्रोधित हो जाती है। सूत्रधार जब उसके पास आता है तो वह कहती है कि

'बहुत दिनों से जवानी के गुणों से भरे हुए मतवालों के विलास को इस बुढ़ापे में दिखाने आए हो' ?

'अय्य किं चिरस्स कालस्स जोव्वणगुणभरमत्तविलासप्पहसणं दंसेदुं आअदोऽसि'।

नटी के इस कथन से सूत्रधार समझता है कि वह 'मत्तविलास' प्रहसन के विषय में कह रही है। इस प्रकार यहाँ विचित्र प्रसङ्ग के आधार पर हास्य-रस को प्रस्तुत किया गया है।

कपाली सत्यसोम और उसकी सहचरी देवसोमा मदिरा पीकर काञ्चीपुरी में घूमते हैं। नशे में चूर देवसोमा को सारी पृथ्वी घूमती हुई सी लगती है। अतः वह कपाली से सहारा देने के लिए कहती है। कपाली उसे सहारा देने के लिए पकड़ना चाहता है परन्तु गिरने लगता है—

'प्रिये सोमदेवे! किं त्वं कुपितासि, यदवलम्बितुमुपसर्पतो मे दूरी भवसि ?'

ऐसा कहते हुए वह नशे के कारण नामोच्चार भी अशुद्ध करता है–सोमदेवे !

कपाली को मद्यशाला यज्ञस्थल की तरह लगती है—'अत्र हि ध्वज-स्तम्भो यूपः, सुरा सोमः, शौण्डा ऋत्विजः, चषकाश्चमसाः, शूल्यमांसप्रभृतय उपदंशा हविर्विशेषाः, मत्तवचनानि यजूंषि, गीतानि सामानि, उदङ्काः स्रुवाः, तर्षोऽग्निः, सुरापणाधिपतिर्यजमानः।'

कपाली को मदिरा के नशे में सब वस्तुएँ मदिरामय ही प्रतीत होती हैं। शिव ने अपने तीसरे नेत्र की अग्नि से कामदेव को भस्म कर दिया था—इस पौराणिक तथ्य को भी वह नहीं मानता। उसके विचार में तो कामदेव का शरीर भस्म नहीं अपितु मदिरा ही बन गया—

मिथ्या त्रिलोचनविलोचनपावकेन
भस्मीकृतां मदनमूर्तिमुदाहरन्ति।
स्नेहात्मिका तदभितापवशाद् विलीना
सेयं प्रिये ! मदयति प्रसभं मनांसि ॥

और उसकी सहचरी देवसोमा भी इस बात का समर्थन करती है—

'भअवं जुज्जइ एदं। णहि लोओवआरणिरदो लोअणाहो लोअं विणासेदि।' [भगवन् युज्यत एतद्। नहि लोकोपकारनिरतो लोकनाथो लोकं विनाशयति।]

शाक्यभिक्षु नागसेन भिक्षापात्र में धनदास सेठ के घर से मत्स्य-माँस युक्त भिक्षा लाता है। उस समय वह कहता है कि बुद्ध ने जब प्रासादों में रहना, गद्देदार पलँगों पर सोना, पञ्चगन्धयुक्त पान खाना, महीन वस्त्र पहनना आदि का विधान किया है—तो स्त्री समागम और मद्यपान का नियम भी अवश्य बनाया होगा। परन्तु वृद्ध बौद्धों ने युवकों के प्रति ईर्ष्या के कारण उनसे सम्बन्धित मूल ग्रन्थों को अवश्य ही छिपा दिया होगा—

'अहो अवस्सं एदेहि दुट्ठबुद्धत्थविरेहि णिरुच्छाएहि अम्हाणं तरुणजणाणं मच्छरेण पिडअपुत्थएसु इत्थिआसुरावाणविहाणाणि पलामिट्ठाणित्ति तक्केमि। कणि णु हु अविणट्ठ मूलपाठं समासादएअं।' [अवश्यमेतैर्दुष्टै बुद्धस्थविरैर्निरुत्साहैरस्माकं तरुणजनानां मत्सरेण पिटकपुस्तकेषु स्त्रीसुरापानविधानानि परामृष्टानीति तर्कयामि। कुतो नु खल्वविनष्टमूलपाठं समासादयेयम्।]

वस्त्र के भीतर अपने भिक्षा पात्र को छिपाकर ले जाते हुए शाक्यभिक्षु को कपाली और देवसोमा उसके पात्र को अपना समझकर पकड़ लेते हैं। तब भिक्षु कहता है कि 'अरे कापालिकोपासक! नहीं-नहीं ऐसी बात नहीं है।' अर्थात् वह पात्र कपाली का नहीं है, दूसरी ओर देवसोमा को देखकर मन ही मन कहता है—

'अहो ललिअरूवा उवासिआ।' [अहो ललितरूपा उपासिका।]

कपाली और शाक्यभिक्षु का कलह भी हास्य रस को ही उत्पन्न करता है। भिक्षापात्र लेने के लिए जब कपाली शाक्यभिक्षु नागसेन के चीवर का कोना पकड़कर खींचता है तो वह चिल्लाता है—'णमो बुद्धाय।' इस पर कपाली कहता है कि फिर तो 'नमः खरपटाय' ऐसा कहना चाहिए या बुद्ध तो खरपट से भी बढ़कर चोर हैं क्योंकि उन्होंने वेदान्तों और 'महाभारत' से ही तत्त्वों को चुराकर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है।

वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि।
विप्राणां मिषतामेव कृतवान् कोशसञ्चयम्॥

कपाली के इस कथन में श्लेष भी हास्य रस का कारण है। यहाँ 'अर्थ' शब्द एक ओर वेदान्त के तत्त्वों की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर 'धन' की ओर।

देवसोमा कपाली से कहती है कि वह थका हुआ सा लग रहा है। अतः उसे मदिरा पीकर शक्ति अर्जित करके फिर नागसेन से कलह करनी चाहिए। जब वह उसे मदिरा देती है तो कपाली कहता है कि वह भी थकी सी है, उसे भी मदिरा पीनी चाहिए और बची हुई मदिरा नागसेन को देने के लिए कहता है। देवसोमा जब उसे देने लगती है तो नागसेन मन ही मन तो बहुत प्रसन्न होता है लेकिन उसे डर है कि कोई देख लेगा—'अहो सुहोवणदो अब्भुदओ। एत्तओ दोसो—महाजणो पेक्खिस्सदि। [अहो सुखोपनतोऽभ्युदयः। एतावान् दोषो महाजनो द्रक्ष्यति।] लेकिन कपाली भी उसके लड़खड़ाते स्वर से उसका आशय समझ जाता है—

'इयमस्य इच्छाविरोधिनी वाक् मुखप्रसेकेन स्खलति ॥

देवसोमा कपाली से कहती है कि वह नागसेन प्रेम से कपाल नहीं देगा, अतः झगड़ा करके ही लेना चाहिए। दोनों में झगड़ा होता है और नागसेन हाथ से कपाली को धकेलता हुआ पैर से मारता है और कपाली गिर पड़ता है। देवसोमा नागसेन के बालों को खींचने के प्रयास में सिर पर बाल न होने के कारण गिर पड़ती है। नागसेन प्रसन्न होकर मन ही मन कहता है—'अघं बुद्धस्स विण्णाणं जेण मुण्डणं दिट्ठं।' [अर्हं बुद्धस्य विज्ञानं, येन मुण्डन दृष्टम्।] फिर वह गिरी हुई देवसोमा को हाथ पकड़कर उठाने लगता है तो कपाली चिल्लाता है, अरे माहेश्वरो ! देखो—'अनेनभिक्षुनामधारकेण नागसेनेन मम प्रियतमा पाणिग्रहणं क्रियमाणम्।'

नागसेन कहता है कि 'ऐसी बात नहीं है, विपत्ति में गिरे हुए पर दया करना हमारा धर्म है', इस पर कपाली कहता हैं कि अगर ऐसी बात है तो पहले वह (कपाली) गिरा था उसे उठाना चाहिए था—'किमयमपि सर्वज्ञः धर्मः। नन्वहं पूर्वपतितोऽस्मि।'

उन्मत्तक का चरित्र भी हास्य रस की ही सृष्टि करता है। उसी को कपाली का भिक्षा पात्र शूल्यमाँस से युक्त होने के कारण कुत्ता ले भागा था और उस पागल ने उसी से वह कपाल प्राप्त किया था। वह झगड़ते हुए इन लोगों के पास जाता है और पाशुपत को, जो समझौता कराने आया था, वह कपाल देना चाहता है। फिर नागसेन के कहने पर वह कपाली को देता है परन्तु दूसरे ही क्षण छीन कर जाने लगता है। उसे वह सोने का पात्र ही

समझता है—'मूढ ! किं णं पेक्खशि, शुवण्णभाअणं खु एदं।' [मूढ ! किं न पश्यसि, सुवर्णभाजनं खल्वेतत् ।]

नागसेन कहता है 'सोने का पात्र ! क्या यह पागल है' ? इस पर पागल कहता हैं कि 'पागल यह शब्द बार-बार सुनता हूँ, तो कपाल को लेकर उस पागल को तो दिखाओ'—'उम्मत्तओत्ति बहुशो एदं शद्दं शुणोमि। एदं गण्हिअ दलिशेहि उम्मत्तअं।' [उन्मत्तक इति बहुश एतं शब्दं श्रृणोमि। एतद् गृहीत्वा दर्शयोन्मत्तकम् ।]

कपाल की प्राप्ति होने पर शाक्यभिक्षु और कपाली प्रसन्न होते हैं और पाशुपत बभ्रुकल्प मन ही मन कहता है कि यह भिक्षु आज सिंह के मुँह से बच गया—'सत्यमेतत्-नास्त्यदोषवतां भममिति, यदयमद्य भिक्षुर्व्याघ्रमुखात् परिभ्रष्टः' और उन लोगों से कहता है कि तुम दोनों का विरोध किरात और अर्जुन के समान परस्पर प्रेम को बढ़ाने वाला बने। नागसेन और कपाली सत्यसोम आपस में क्षमा याचना करते हैं और प्रहसन समाप्त होता है।

इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक यह प्रहसन हास्य रस से परिपूर्ण है।

श्री श्री सरस्वत्यै नमः

मत्तविलासप्रहसनम्

श्रीमहेन्द्रविक्रमवर्मप्रणीतम्

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

सूत्रधारः—

भाषावेषवपुःक्रियागुणकृतानाश्रित्य भेदान् गतं
भावावेशवशादनेकरसतां त्रैलोक्ययात्रामयम् ।
नृत्तं निष्प्रतिबद्धबोधमहिमा यः[1] प्रेक्षकश्च स्वयं
स व्याप्तावनिभाजनं दिशतु वो दिव्यः कपाली यशः ।।१।।

भोः ! समासादितः खलु मया यवीयसीं भार्यामधिकृत्य समुत्पन्नव्यलीकायां ज्येष्ठायां मे कुटुम्बिन्यां युक्ततरः प्रसादनोपायः, यच्चिरस्याद्य वयं प्रेक्षाधिकारे परिषदा नियुक्ताः स्म । तद् यावदेनामुपसर्पामि ।[2] (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये ! इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

नटी—(सरोषम्) अय्य किं चिरस्स कालस्स जोव्वणगुणभरमत्तविलासप्पहसणं दंसेदुं आअदोसि । [आर्य ! किं चिरस्य कालस्य यौवनगुणभरमत्तविलासप्रहसनं दर्शयितुमागतोसि ।]

सूत्रधारः—यथाह भवती ।

नटी—ताए एव दाव[3] दंसेहि, जा तुए रमइदव्वा । [तस्यैव तावद् दर्शय, या त्वया रमयितव्या]

सूत्रधारः—त्वया सह दर्शयिष्यामीति ।

नटी—किं ताए एव्व णिउत्तोसि । [किं तयैव नियुक्तोऽसि ।]

सूत्रधारः—एवमेतत् । अपि च तत्र गता महान्तमनुग्रहं लप्स्यसे ।

नटी—तव एव्व खु एदं जुज्जइ । [तवैव[4] खलु एतद् युज्यते]

सूत्रधारः—भवति ! किमिव न युज्यते । त्वत्प्रयोगपरितोषिता परिषदनुग्रहीष्यतीति ।

---

१. करोतीत्याध्याहर्त्तव्यम् ।
२. परिक्रम्य ने—।
३. दाणिं ।
४. तथैवं ।

मत्तविलास-प्रहसन

श्री महेन्द्रविक्रमवर्मा द्वारा रचित

हिन्दी अनुवाद

(नान्दी के अन्त में सूत्रधार प्रवेश करता है।)

अकुण्ठित ज्ञान की महिमा वाले जो भाषा, वेष, शरीर, क्रिया (तथा) गुण कृत (नाना प्रकार के) भेदों का आश्रय लेकर, भावावेश के वशीभूत अनेक रसों को प्राप्त हुए, तीनों लोकों के व्यवहार रूप नृत्त को (करते हैं), और जो स्वयं दर्शक हैं, वह दिव्य कपालधारी (शिव) भूमण्डलरूपी पात्र में व्याप्त यश आपको प्रदान करें ॥१॥

अरे ! मैंने छोटी पत्नी के विषय में मिथ्याग्रह होने से रुष्ट (नाराज हुई) बड़ी पत्नी को प्रसन्न करने का (मनाने का) और अधिक अच्छा उपाय ढूंढ़ लिया है, क्योंकि आज हमें बहुत दिनों बाद सभा ने नाटक प्रदर्शन करने को नियुक्त किया है। तो अब इसके पास जाता हूँ। [नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये ! इधर आओ।

(प्रवेश करके)

नटी---(क्रोध सहित) आर्यपुत्र ! क्या तुम बहुत दिनों बाद जवानी के गुणों से भरा हुआ शराबियों के विलासों का प्रहसन दिखाने आए हो ?

सूत्रधार—जैसा आपने कहा। (ठीक ही है)

नटी—तब उसी (स्त्री) को दिखाओ, जो तुम्हारे साथ रमण के योग्य है।

सूत्रधार—तुम्हारे साथ दिखाऊँगा। (इस उद्देश्य से मैं तुम्हारे पास आया हूँ।)

नटी---क्या उसी (औरत) ने तुम्हें भेजा है ?

सूत्रधार---हाँ ठीक ही है। और फिर वहाँ जाओगी तो बहुत अनुग्रह मिलेगा।

नटी—यह केवल तुम्हारे लिए ही ठीक है।

सूत्रधार—आर्ये ! तुम्हारे लिए भी ठीक है। सभा तुम्हारे अभिनय से संतुष्ट होकर (तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा) अनुग्रह करेगी। (तुम्हारा बहुत आदर करेगी)।

नटी—(सहर्षम्) एवम् । लद्धो अय्यमिस्साणं पसादो । [एवम् । लब्ध आर्यमिश्राणां प्रसादः ।]

सूत्रधारः—बाढम् । लब्धः ।

नटी—जइ एवं, किं दे पिअक्खाणिअं देमि । [यद्येवं, किं ते प्रियाख्यानिकं[५] ददामि ।]

सूत्रधारः—अलं प्रियाख्यानिकपुनरुक्तेन । पश्य,

उद्भिन्नरोमाञ्चकपोलरेख-
माविर्मयूखस्मितमञ्चितभ्रु ।
लब्ध्वा प्रिये ! दुर्लभमाननं ते
भूयोऽपि किं प्रार्थयितव्यमस्ति ।।२ ।

नटी—किं दाणि अय्येण पउज्जिदव्वं । [किमिदानीमार्येण[६] प्रयोक्तव्यम् ।]

सूत्रधारः—ननु त्वयैवाभिहितं मत्तविलासप्रहसनमिति ।

नटी—णूणं इमस्सि पक्खवादी मे कोवो, जेण अभिप्पाअणुरूवं भणाविद ह्मि । अय्य कदमो उण सो कवी, जो इमाए किदीए पआसीअदि । [नूनमस्मिन्[७] पक्षपाती मे कोपः, येनाभिप्रायानुरूपं भणितास्मि । आर्य ! कतमः पुनः स कविः, योऽनया[८] कृत्या प्रकाश्यते ।]

सूत्रधारः—भवति ! श्रूयताम् ।[९] पल्लवकुलधरणिमण्डल-[१०]कुलपर्वतस्य सर्वनयविजितसमस्तसामन्तमण्डलस्य आखण्डल समपराक्रमश्रियः श्रीमहिमानुरूपदानविभूतिपरिभूतराजराजस्य श्रीसिंहविष्णुवर्मणः पुत्रः शत्रुषड्वर्गनिग्रहपरः परहितपरतन्त्रतया महाभूतसधर्मा महाराजः श्रीमहेन्द्रविक्रमवर्मा नाम । अपि च,

प्रज्ञादानदयानुभावधृतयः कान्तिः कलाकौशलं,
सत्यं शौर्यममायता विनय इत्येवम्प्रकारा गुणाः ।
अप्राप्तस्थितयः समेत्य शरणं याता यमेकं कलौ,
कल्पान्ते जगदादिमादिपुरुषं सर्गप्रभेदा इव ।।३।।

किञ्च,

---

५. न कुतः, उद्भिन्न—। ६. नाटकं नाटयितव्यम् । ७. आम्, अ— ।
८. येनानया कृत्या आत्मानमेव प्रकाशयिष्यति । ९. ताम् । विदितप
१०. लपर्वत

नटी—(हर्ष के साथ) ऐसी बात है ! (तो) आर्यसभिकों का प्रसाद मिल गया।

सूत्रधार—हाँ, मिल गया।

नटी—यदि ऐसा है तो तुमको अच्छा वृत्तान्त सुनाने का पारितोषिक क्या दूं ?

सूत्रधार—पारितोषिक की पुनरावृत्ति न करो। देखो—

तुम्हारे, फूटे हुए रोमाञ्च से युक्त कपोल वाले, प्रकट हुए किरणों से युक्त मन्दहास वाले, तिरछी भौंहों वाले, दुष्प्राप्य मुख को प्राप्त करके और फिर क्या माँगना है ॥२॥

नटी—तो अब आप कौन सा नाटक प्रदर्शित करेंगे ?

सूत्रधार—अभी तुमने ही तो कहा कि मत्तविलास प्रहसन।

नटी—इस विषय में भी मेरा क्रोध पक्षपाती है, जिससे (मैं) अभिप्रायवश कहने के लिए विवश की गई हूँ। आर्य ! फिर वह कौन सा कवि है जो इस कृति के द्वारा प्रसिद्ध किया जा रहा है।

सूत्रधार—आर्ये ! सुनिए ! पल्लववंशरूपी पृथ्वीमण्डल के कुलपर्वत, सब प्रकार की नीति से सम्पूर्ण सामन्तों के समूह को जीतने वाले, इन्द्र के तुल्य पराक्रमरूपी सम्पत्ति वाले, विशाल सम्पत्ति के अनुरूप दान के उत्कर्ष से कुबेर को भी तिरस्कृत करने वाले, श्रीसिंहविष्णुवर्मा के पुत्र श्री महेन्द्रविक्रमवर्मा नाम के राजा हैं, जो षड्वर्गरूपी (अन्तः) शत्रुओं को नियंत्रित करने वाले, पञ्चमहाभूतों के समान केवल परोपकार में लगे हुए हैं। और भी,

विवेक, उदारता, सहानुभूति, मर्यादा, स्थैर्य (संतोष), दीप्ति, (शिल्प, ललित) कला, समृद्धि, सत्य, पराक्रम, निष्कपटता, नम्रता—आदि ये गुण कलियुग में (कोई अन्य) स्थान न पाकर एक साथ जिस एक (राजा) की शरण में उसी प्रकार चले गए, जैसे प्रलय के अन्त में समस्त सृष्टियाँ संसार के आदि (विराजमान) आदिपुरुष की (शरण में चली जाती हैं) ॥३॥

और,

आकरे सूक्तिरत्नानां यस्मिन् गुणगरीयसाम् ।
अर्घन्ति[११] बहुसूक्तानि सतां सारलघून्यपि ।।४।।

नटी—किं दाणि अय्येण विलम्बीअदि । णं अपुरुवदाए तुरिअं अणुट्ठिदव्वो अअं पओओ । [किमिदानीमार्येण विलम्ब्यते । नन्वपूर्वतया त्वरितमनुष्ठातव्योऽयं प्रयोगः ।]

सूत्रधार—अहं[१२] तु—

सम्प्रति सङ्गीतधनः कविगुणकथयास्मि निघ्नतां नीतः ।

(नेपथ्ये)

प्रिये ! देवसोमे !

सूत्रधार—युवतिसख एष सुरया कपालविभवः कपालीव ।।५।।

(निष्क्रान्तौ)

।। स्थापना ।।[१३]

(ततः प्रविशति सपरिग्रहः कपाली ।)

कपाली—(क्षीवतां रूपयित्वा) प्रिये ! देवसोमे ! सत्यमेवैतत्[१४] तपसा कामरूपता प्राप्यत इति । यत् त्वया परमव्रतस्य विधिवदनुष्ठानेनान्य एव रूपातिशयः क्षणात् प्रतिपन्नः । तव हि—

उद्भिन्नश्रमवारिबिन्दुवदनं सभ्रूलताविभ्रमं
खेलं यातमकारणानि हसितान्यव्यक्तवर्णा गिरः ।
रागाक्रान्तमधीरतारमलसापाङ्गं युगं नेत्रयो-
रंसोपान्तविलम्बिनश्च विगलन्मालागुणा मूर्धजाः ।।६।।

देवसोमा—भअवं ! मत्तं विअ मत्तं विअ मं भणासि। [भगवन् ! मत्तामिव मत्तामिव मां भणसि ।]

कपाली—किमाह भवती ।

देवसोमा—ण हु किञ्चि भणामि। [न खलु किञ्चद् भणामि ।]

कपाली—किन्नु खलु मत्तोऽस्मि ।

---

११. वहु अर्घन्ति वहमूल्यं प्राप्नुवन्ति, श्लाघामनल्पां लभत इत्यर्थः ।
१२. हन्त सम्प्रति— १३. आमुखम् १४. —मेतत्

श्रेष्ठ गुणों वाले, सूक्तिरूपी रत्नों वाली जिस समुद्र में सज्जनों की अल्प मूल्य वाली सूक्तियाँ भी बहुत मूल्य को प्राप्त करती हैं (अर्थात् बहुमूल्य हो जाती हैं) ।।४।।

नटी—आर्य ! अब देर क्यों कर रहे हैं ? अपूर्व होने के कारण इसका प्रदर्शन शीघ्र ही करना चाहिए ।

सूत्रधार—मैं तो–

सङ्गीत ही है धन जिसका ऐसा (मैं) कवि इस समय कवि के गुणों को कहने से नीचता को प्राप्त हो गया हूँ ।

(नेपथ्य में)

प्यारी ! देवसोमा ।

जवान स्त्री के सहचर, कपाल ही जिसकी सम्पत्ति है, (ऐसे) मदिरा के कारण (नीचे गिरते हुए) इस कपाली के समान (मैं भी नीचता को प्राप्त हो गया हूँ ।) ।।५।।

(दोनों निकल जाते हैं ।)

॥ स्थापना ॥

(तब सहचरी सहित कपाली प्रवेश करता)

कपाली–(मस्ती का अभिनय करके) प्यारी ! देवसोमा ये तो सच ही है कि तप से इच्छानुसार रूप मिलता है, क्योंकि तुमने परम व्रत का विधिपूर्वक पालन करने के कारण ही क्षण भर में नया ही सौन्दर्य प्राप्त कर लिया है । क्योंकि–

(तुम्हारे) मुख पर स्वेद बिन्दु फूट निकले हैं, लतासदृश भौंहों में विलास है, क्रीड़ायुक्त गति है; (तुम) बिना किसी कारण हँस रही हो, (तुम्हारी) बोली अस्पष्ट वर्णों वाली है, दोनों नेत्र लालिमा से भरे हैं, (आँखों की) पुतलियाँ चञ्चल हैं, (दृष्टि) अलसाई और तिरछी है, माला की गाँठ ढीली पड़ गई है, (और) केश कंधों तक लटक गए हैं ।।६।।

देवसोमा— भगवन् (मैं) नशे में हूँ, नशे में हूँ, (आप) ऐसा कह रहे हैं ?

कपाली—आपने क्या कहा ?

देवसोमा—कुछ नहीं कह रही हूँ ।

कपाली–(तो) क्या मैं ही नशे में हूँ ?

देवसोमा—भअवं। परिब्भमइ परिब्भमइ पुहुवी। पुरो वदामि विअ। अवलम्ब दाणि मं। [भगवन्! परिभ्रमति, परिभ्रमति पृथिवी पुरः पतामीव। अवलम्बस्वेदानीं माम्।]

कपाली—प्रिये! तथास्तु। (अवलम्बमानः पतनं रूपयित्वा) प्रिये! सोमदेवे! किं त्वं कुपितासि, यदवलम्बितुमुपसर्पतो मे दूरीभवसि।

देवसोमा—अहो णु खु आअदकोवा सामदेवा, जा तुए सीसेण पणामिअ अणुणीअमाणा वि दूरी होइ। [अहो नु खलु आगतकोपा सोमदेवा या त्वया शीर्षेण प्रणम्यानुनीयमानापि दूरीभवति।]

कपाली—ननु त्वमेवासि सोमदेवा। (ध्यात्वा) नहि,[१५] देवसोमा

देवसोमा—भअवं। णं तहा वल्लहा सोमदेवा, णार्हदि मम णामकेणाभिधादुं[१६]। [भगवन्! ननु तथा वल्लभा सोमदेवा, नार्हति मम नामकेनाभिधातुम्।]

कपाली— भवति! सुलभपदस्खलितो मे मदोऽयं तवात्रापराद्धः।[१७]

देवसोमा—दिट्ठिआ ण तुवं। [दिष्ट्या न त्वम्।]

कपाली—कथं मद्यदोषो मामेवं सङ्क्रामयति। भवतु भवतु, अद्यप्रभृति मद्यनिवेषणान्निवृत्तोऽस्मि।

देवसोमा—[१८]भअवं। मा या मम कारणादो बदभङ्गेण तवो खण्डेदुं। [भगवन्! मा मा मम कारणाद् व्रतभङ्गेन तपः खण्डयितुम्।] (पादयोः पतति)

कपाली—(सहर्षमुत्थाप्यालिङ्ग्य) धृर्णं धृर्णं,[१९] नमः शिवाय। प्रिये!

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥७॥

---

१५. नहि नहि १६. —मधेयेन
१७. —राध्यति १८. मा मा भगवन् मम— १९. धृण्ण धृण्ण; धिर्णं धिर्णं

देवसोमा–स्वामी ! पृथ्वी घूम रही है. घूम रही है। सामने गिरने वाली हूँ, अब मुझे सम्हालिए ।

कपाली– प्यारी ! ठीक है। [सहारा देता हुआ गिरने का अभिनय करके] प्यारी! सोमदेवा ! क्या तुम नाराज हो ? (क्योंकि) मैं सहारा देने के लिए पास आ रहा हूँ (और) तुम दूर होती जा रही हो ।

देवसोमा–हाँ, सोमदेवा को गुस्सा आया तो तुम्हारे सिर से नमस्कार करके मनाने पर भी दूर होती जा रही है ।

कपाली–निस्संदेह तुम ही सोमदेवा हो । (सोचकर) नहीं, देवसोमा ।

देवसोमा–स्वामी ! वैसी प्यारी सोमदेवा को मेरे नाम से बुलाना उचित नहीं है ।

कपाली–आर्ये ! मेरे नशे के कारण यह शब्दों के उलट-फेर का दोष है ।

देवसोमा–अच्छा तो तुम अपराधी नहीं हो ।

कपाली–यह मेरे ऊपर मदिरा का प्रभाव कैसे हो रहा है ? अच्छा, अच्छा, आज से मदिरा पीना छोड़ता हूँ ।

देवसोमा–स्वामी ! नहीं, नहीं, मेरे कारण व्रतभङ्ग करके तप को तोड़ना ठीक नहीं । (पैरों पर गिर पड़ती है ।)

कपाली–(हर्ष से उठाकर, आलिङ्गन करके) नमः शिवाय ।

मदिरा पीनी चाहिए, प्रियतमा का मुख देखना चाहिए, स्वभाव से सुन्दर तथा विकृत वेष पहनना चाहिए, जिन्होंने ऐसा यह मोक्ष का मार्ग दिखाया वह भगवान् शिव दीर्घजीवी हों ॥७॥

देवसोमा—भअवं ! णं तहा भणिदव्वं । अघन्ते मोक्खमग्गं अण्णहा वण्णअन्ति । [भगवन् ननु तथा भणितव्यम् । अर्हन्तो[20] मोक्षमार्गमन्यथा वर्णयन्ति ।]

कपाली—भद्रे ! ते खलु मिथ्यादृष्टयः । कुतः,

कार्यस्य निःसंशयमात्महेतोः
सरूपतां हेतुभिरभ्युपेत्य ।
दुःखस्य कार्यं सुखमामनन्तः
स्वेनैव वाक्येन हता वराकाः ।।८।।

देवसोमा—सन्तं सन्तं पावं । [शान्तं शान्तं पापम् ।]

कपाली—शान्तं शान्तं पापम् । न खलु ते पापा आक्षेपमुखेनाप्यभिधातुमर्हन्ति, ये ब्रह्मचर्यकेशनिर्लोटनमलधारणभोजनवेलानियममलिनपटपरिधानादिभिः प्राणिनः परिक्लेशयन्ति । तदिदानीं कुतीर्थसङ्कीर्तनोपहतां जिह्वां सुरया प्रक्षालयितुमिच्छामि ।

देवसोमा—तेण हि अण्णं दाणिं सुरापणं गच्छामो ।[तेन ह्यन्यमिदानीं सुरापणं गच्छावः ।]

कपाली—प्रिये ! तथास्तु ।

(उभौ परिक्रामतः ।)

कपाली—अहो नु खलु विमानशिखरविश्रान्तघनरसितसन्दिग्धमृदङ्गशब्दस्य मधुसमयनिर्माणमातृकायमाणमाल्यापणस्य कुसुमशरविजयघोषणायमानवरयुवतिकाञ्चीरवस्य काञ्चीपुरस्य परा विभूतिः । अपि च—

अनतिशयमनन्तं सौख्यमप्रत्यनीकं
समधिगतसतत्वा मेनिरे यन्मुनीन्द्राः ।
तदिह निरवशेषं दृष्टमेतत् तु चित्रं
यदुत करणभोग्यं कामभोगात्मकं च ।।९।।

देवसोमा—भअवं ! भअवदी वारुणी विअ अणवगीअमहुरा काञ्ची । [भगवन् ! भगवती वारुणीवानवगीतमधुरा काञ्ची ।]

२०. अन्यथा मोक्षमार्गम्

Rashtriya Sanskrit Sansthan
LIBRARY
ACC. NO
DATE 16366

देवसोमा—स्वामी ! वैसा ही कहना चाहिए (अर्थात् आपने एकदम ठीक कहा)। अर्हत् के अनुयायी मोक्ष मार्ग का वर्णन दूसरी तरह से करते हैं।

कपाली—कल्याणि ! वे तो मिथ्या दृष्टि वाले हैं (इनका दर्शन गलत है।) क्योंकि—

निस्संदेह कार्य (अपने) कारण जैसा होता है, (इस प्रकार) हेतुवाद के द्वारा सिद्ध करके (पुनः) सुख को दुख का कार्य बनाते हुए (ये) बेचारे अपने ही वचन से परास्त हो गए ॥८॥

देवसोमा—पाप शान्त हो, शान्त हो।

कपाली— पाप शान्त हो, शान्त हो। वे तो इतने पापी हैं कि निंदा के लिए भी उनका नाम नहीं लेना चाहिए, जो ब्रह्मचर्य, बालों के उखाड़ने, मल धारण करने, भोजन के समय के नियम (सूर्यास्त से पहले खाना), मैले वस्त्र धारण करने—आदि से लोगों को सताते हैं। तो अब पापियों का नाम लेने से अपवित्र हुई जीभ को मदिरा से धोना चाहता हूँ।

देवसोमा—तो अब दूसरी मदिरा की दुकान पर चलते हैं।

कपाली—प्यारी ! ठीक है।

(दोनों घूमते हैं)

अहा ! काञ्चीपुरी की प्रकृष्ट शोभा (जहाँ)—महलों के शिखरों पर आराम करने वाले मेघों के गर्जन से मृदङ्ग ध्वनि का सन्देह हो रहा है, जहाँ फूलों की दुकानों से वसन्त ऋतु का निर्माण किया जा सकता है, जहाँ की श्रेष्ठ युवतियों की मेखलाओं की ध्वनि कामदेव की विजय घोषणा की तरह होती है। और भी,

तत्त्ववेत्ता श्रेष्ठ मुनियों ने जिस सुख को सर्वोत्कृष्ट, अनन्त अद्वितीय माना है, वही (सुख) पूरा यहाँ दिखाई दे रहा है, लेकिन आश्चर्य (की बात) है कि यहाँ यह (सुख) इन्द्रियों के द्वारा भोग करने योग्य है और काम भोग रूपी है ॥९॥

देवसोमा—स्वामी ! मदिरा देवी की तरह काञ्ची भी दोष रहित है।

कपाली—प्रिये ! पश्य पश्य ! एष सुरापणो यज्ञवाटविभूतिमनुकरोति । अत्र हि ध्वजस्तम्भो यूपः, सुरा सोमः, शौण्डा ऋत्विजः, चषकाश्चमसाः, शूल्यमांसप्रभृतय उपदंशा हविर्विशेषाः, मत्तवचनानि यजूंषि, गीतानि सामानि, उदङ्काः स्रुवाः, तर्षोऽग्निः, सुरापणाधिपतिर्यजमानः ।

देवसोमा—अह्माअं पि एत्थ भिक्खा रुद्दभाओ भविस्सदि । [आवयोरप्यत्र भिक्षा[२१]रुद्रभागो भविष्यति ।]

कपाली -अहो दर्शनीयानि प्रहतमर्दल[२२] करणानुगतानि विविधाङ्गहारवचनभ्रूविकाराणि उच्छ्रितैकहस्तावलम्बितोत्तरीयाणि विगलित[२३]वसनप्रतिसमाधानक्षणविषमितलयानि व्याकुलितकण्ठगुणानि मत्तविलासनृत्तानि ।

देवसोमा—अहो रसिओ खु आअय्यो । [अहो रसिकः खल्वाचार्यः ।]

कपाली—एषा भगवती वारुणी चषकेष्वावर्जिता प्रत्यादेशो मण्डनानाम्, अनुनयः प्रणयकुपितानां, पराक्रमो यौवनस्य, जीवितं विभ्रमाणाम् । किं बहुना—

मिथ्या त्रिलोचनविलोचनपावकेन
भस्मीकृतां मदनमूर्तिमुदाहरन्ति ।
स्नेहात्मिका तदभितापवशाद् विलीना
सेयं प्रिये ! मदयति प्रसभं मनांसि ॥१०॥

देवसोमा—भअवं ! जुज्जइ एदं । णहि लोओवआरणिरदो लोअणाहो लोअं विणासेदि । [भगवन् ! युज्यत एतत् । नहि लोकोपकारनिरतो लोकनाथो लोकं विनाशयति ।]

(उभौ कपोलपटहं कुरुतः)

कपाली—भवति ! भिक्षां देहि ।

(नेपथ्ये)

भअवं ! एसा भिक्खा । पडिगण्हदु भअवं । [भगवन् ! एषा भिक्षा । प्रतिगृह्णातु भगवान् ।[२४]]

---

२१. भिक्षविभागः २२. मद्दल २३. —लितानि २४. भवान्

कपाली—प्रिये ! देखो, देखो। यह मदिरा की दुकान यज्ञ-स्थल के वैभव का अनुकरण करती है। क्योंकि यहाँ ध्वजा का स्तम्भ यज्ञस्तम्भ है, मदिरा सोमरस है, मदिराविक्रेता पुरोहित हैं, (मदिरा के) प्याले पात्र हैं, शूली पर पका माँस आदि उपदंश हवन पदार्थ हैं; शराबियों की बोलियाँ यजुर्वेद (के मन्त्र) हैं, गाने सामवेद (के गान) हैं; चमड़े का बर्तन यज्ञ का चमचा, प्यास अग्नि और दुकानदार यजमान है।

देवसोमा—हम दोनों की भिक्षा भी रुद्र का भाग बन जाएगी।

कपाली—अहा ! ये बजते हुए तबले की ध्वनि का अनुसरण करने वाले, तरह-तरह के अङ्गों के विक्षेप वाले, शब्द (व) तिरछी भौहों वाले, एक हाथ में उतरीय को पकड़ने वाले, गिरते हुए वस्त्र को सम्भालने के समय लयभङ्ग होने वाले, लड़खड़ाते हुए कण्ठ स्वर वाले शराबियों के नृत्त देखने योग्य हैं।

देवसोमा—आचार्य तो बड़े रसिक हैं।

कपाली—प्यालों में भरी हुई यह मदिरा देवी मानों शृङ्गार की चुनौती है, प्रेम में कुपित जनों (को मनाने) की विनती है, यौवन की वीरता है (और) विलासियों का प्राण है। बहुत कहने से क्या—

शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि से कामदेव की मूर्ति भस्म बन गयी (यह लोग) झूठ कहते हैं। प्रिये ! (वास्तव में) अत्यधिक गर्मी के कारण गलकर (मदिरा के रूप में) द्रव बनकर वही यह मनों को तुरन्त मस्त बना देती है ॥१०॥

देवसोमा—स्वामी ! यह ठीक है। संसार के उपकार में लगे हुए संसार के स्वामी (शिव) संसार का विनाश नहीं करते।

(दोनों गाल बजाते हैं।)

कपाली—देवी ! भिक्षा दो।

(नेपथ्य में)

भगवान् ! यह भिक्षा है। आप लीजिए।

कपाली—एष[२५] प्रतिग्रहणामि । प्रिये ! क्व मे कपालम् ?

देवसोमा—अहं वि ण पेक्खामि । [अहमपि न पश्यामि ।]

कपाली—(ध्यात्वा) आ तस्मिन्नेव सुरापणे विस्मृतमिति तर्कयामि । भवतु, प्रतिनिवृत्य द्रक्ष्यावः ।

देवसोमा—भअवं ! अधम्मो खु एसो आदरोवणीदाए भिक्खाए अप्पडिग्गहो । किं दाणि करम्ह । [भगवन् ! अधर्मः खल्वेष आदरोपनीताया भिक्षाया अप्रतिग्रहः । किमिदानीं कुर्वः ।]

कपाली—आपद्धर्मं[२६] प्रमाणीकृत्य गोशृङ्गेण प्रतिगृह्यताम् ।

देवसोमा—भअवं ! तह । (प्रतिगृह्णाति) [भगवन् ! तथा]

([२७]उभौ परिक्रम्यावलोकयतः)

कपाली—कथमिहापि न दृश्यते । (विषादं रूपयित्वा) भो भो माहेश्वराः ! माहेश्वराः ! अस्मदीयं भिक्षाभाजनमिह भवद्भिः किं दृष्टम्[२८] । किमाहुर्भवन्तः- न खलु वयं पश्याम इति । हा हतोऽस्मि । भ्रष्टं मे तपः । केनाहमिदानीं कपाली भविष्यामि । भोः कष्टम्—

येन मम पानभोजनशयनेषु नितान्तमुपकृतं शुचिना ।
तस्याद्य मां वियोगः सन्मित्रस्येव पीडयति ।।११।।

(पतितः शिरस्ताडनं रूपयित्वा) भवतु । अस्ति लक्षणमात्रम् । न मुक्तोऽस्मि कपालिसंज्ञायाः । (उत्तिष्ठति)

देवसोमा—भअवं ! केण खु गहीदं कवालं । [भगवन् ! केन खलु गृहीतं कपालम्[२९] ।]

कपाली—प्रिये ! तर्कयामि शून्यमांसगर्भत्वाच्छुना वा शाक्यभिक्षुणा वेति ।

देवसोमा—तेण हि अण्णेसणणिमित्तं सव्वं कञ्चीउरं परिब्भमामो । [तेन ह्यन्वेषणनिमित्तं सर्वं[३०] काञ्चीपुरं परिभ्रमावः ।]

कपाली—प्रिये ! तथा ।

---

२५. एष एष   २६. प्रिये, आप—   २७. उभौ तथा कृत्वा प······ ।
२८. —ष्टम् । (कर्णन्दत्वा) किमा— । २९. —लं भवेत् । ३०. सर्वमेव ।

कपाली--मैं लेता हूँ। प्रिये ! मेरा कपाल कहाँ है ?

देवसोमा—मुझे भी नहीं दिखाई दे रहा है।

कपाली—(सोचकर) शायद उसी (पहली) मदिरा की दुकान पर भूल आये हैं। अच्छा तो लौटकर देखेंगे।

देवसोमा--स्वामी ! आदरपूर्वक लाई गई भिक्षा को स्वीकार न करना यह तो अधर्म है। अब क्या करें ?

कपाली--आपद्धर्म को प्रमाण मानकर गोसींग से ले लो।

देवसोमा—अच्छा स्वामी। (लेती है)

(दोनों घूमकर देखते हैं)

कपाली—अरे यहाँ भी दिखाई नहीं देता।

(दुःख का अभिनय करके)

अरे-अरे माहेश्वरो ! माहेश्वरो ! यहाँ आप लोगों ने क्या हमारा भिक्षा का पात्र देखा है ? आपने क्या कहा–हमने नहीं देखा। हाय (मैं) मारा गया। मेरा तप भ्रष्ट हो गया। अब मैं कपाली कैसे होऊँगा (कहलाऊँगा)। ओह ! दुःख है—

जिस पवित्र (कपाल) के द्वारा (मदिरा) पीने, खाने (और) सोने में मेरा अत्यन्त उपकार किया गया, आज सच्चे मित्र के (विरह के) समान उसका वियोग मुझे पीड़ित कर रहा है ॥११॥

(गिरकर सिर पीटने का अभिनय करके)

अच्छा ! (वह कपाल तो) लक्षण मात्र था। कपाली की संज्ञा से मुक्त नहीं हुआ हूँ। (उठता है)

देवसोमा--भगवन् ! कपाल (भला) किसने लिया होगा ?

कपाली—प्रिये ! मुझे ऐसा लगता है कि शूल्यमाँस से युक्त होने के कारण किसी कुत्ते अथवा शाक्यभिक्षु ने (लिया होगा)।

देवसोमा—तो फिर (उसे) ढूंढ़ने के लिए समस्त काञ्चीपुरी में घूमते हैं।

कपाली—प्रिये ! ठीक है।

(उभौ परिक्रामतः)

(ततः प्रविशति शाक्यभिक्षुः पात्रहस्तः)

शाक्यभिक्षुः—अहो[३१] उवासअस्स [३२]धणदाससेट्ठिणो सब्बावास महादाणमहिमाणो, जहि मए अभिमदवण्णगन्धरसो मच्छमंसप्प-आरबहुलो अअं पिण्डवादो समासादिदो। जाव दाणि राअविहारं एव्व गच्छामि। (परिक्रम्य आत्मगतम्) भोः! परमकारुणिएण भअवदा तहागएण पासादेसु वासो सुविहिअ[३३]सय्येसु पज्जङ्केसु सअणं, पुव्वण्हे भोअणं, अवरण्हे सुरसाणि पाणआणि, पञ्चसुगन्धब्वो[३४] वहिअं तम्बोल्लं[३५] सण्हवसणपरिधाणं ति एदेहि उवदेसेहि भिक्खु-सङ्घस्स अणुग्गहं करन्तेण किण्णु हु[३६] इत्थि आपरिग्गहो सुरावाण-विहाणं च ण दिट्ठं। अहव कहं सब्वञ्ञो एतं ण पेक्खदि। अवस्सं एदेहि दुट्ठबुद्धत्थविरेहि णिरुच्छाएहि अह्माणं तरुणजणाणं मच्छरेण पिडअपुत्थएसु इत्थिआ सुरावाण विहाणाणि पलामिट्टाणि त्ति तक्केमि। कहिं णु हु अविणट्ठमूलपाठं समासादएअं। तदो सम्पुण्णं बुद्धवअणं लोए पआसअन्तो सङ्घोवआरं करिस्सं। [अहो उपासकस्य धनदासश्रेष्ठिनः सर्वावासमहादानमहिमा, यस्मिन् मयाभिमतवर्ण-गन्धरसो मत्स्यमांसप्रकारबहुलोऽयं पिण्डपातः समासादितः। यावदि-दानीं राजविहारमेव गच्छामि। (परिक्रम्य आत्मगतम्) भोः परमकारुणिकेन भगवता तथागतेन प्रासादेषु वासः, सुविहितशय्येषु पर्यङ्केषु शयनं, पूर्वाह्णे भोजनं अपराह्णे सुरसानि पानकानि, पञ्चसुगन्धोपहितं[३७]ताम्बूलं श्लक्ष्णवसनपरिधानमित्येतैरुपदेशै-र्भिक्षुसङ्घस्यानुग्रहं कुर्वता किन्नु खलु स्त्रीपरिग्रहः सुरापानविधानं च न दृष्टम् अथवा कथं सर्वज्ञ एतन्न पश्यति। अवश्यमेतैर्दुष्ट-बुद्धस्थविरैर्निरुत्साहैरस्माकं तरुणजनानां मत्सरेण पिटकपुस्तकेषु स्त्रीसुरापानविधानानि परामृष्टानीति तर्कयामि। कुत्र नु खल्व-विनष्टमूलपाठं समासादयेयम्। ततः सम्पूर्णं बुद्धवचनं लोके प्रकाशयन् सङ्घोपकारं करिष्यामि।] (परिक्रामति)

देवसोमा—भअवं! पेक्ख पेक्ख। एसो रत्तपडो इमस्सिं विस्सत्थपुरिससम्पादे राअमग्गे सङ्क ुइदसव्वङ्गो उभयपक्खसञ्चा-रिददिट्ठी सङ्किदपदविक्खेवो तुरिअ-तुरिअं गच्छइ। [भगवन्!

३१. (गन्धमघ्राय) अहो। ३२. घ ३३. हिद—।
३४. मुगन्धो— ३५. म्वु ३६. खु। ३७. —न्धोद्बोधितं—

(दोनों घूमते हैं)

(तब पात्र हाथ में लिए शाक्यभिक्षु प्रवेश करता है)

उपासक धनदास सेठ की सभी को आवास देकर बड़ा दान देने की महिमा कितनी अद्‌भुत है, जिसमें मैंने अभीष्ट रंग, गंध और स्वाद वाला मछली और माँस के बहुत से प्रकार जिसमें है ऐसा खाना प्राप्त किया है। तो अब (मैं) राजविहार में ही जाता हूँ। (घूमकर स्वगत) अरे ! अत्यन्त दयालु भगवान् तथागत ने महलों में रहना, अच्छी तरह गद्दे जिसमें लगाए गए हैं ऐसे पलँगों पर सोना, दिन के पूर्वार्द्ध में खाना, उत्तरार्द्ध में स्वादिष्ट पेय, पाँच सुगन्धों से युक्त ताम्बूल (पान), मुलायम वस्त्र पहनना, ऐसे इन उपदेशों से भिक्षु सङ्घ पर कृपा करते हुए स्त्री-सहवास और मदिरा पीने का विधान क्यों नहीं देखा ? अथवा सर्वज्ञ यह नहीं देखता है, यह कैसे हो सकता है ? निश्चय ही उन दुष्ट वृद्ध और उत्साहहीन बौद्धों ने हम युवकों के प्रति ईर्ष्या के कारण पिटक ग्रन्थों में स्त्री-सहवास (और) मदिरा पीने के विधान को हटा दिया होगा, ऐसा मेरा तर्क है। अब कहाँ से अविनष्ट मूलपाठ को प्राप्त करूँ ? तब मैं सम्पूर्ण बुद्ध के उपदेश को संसार में प्रकाशित (प्रचारित) करते हुए सङ्घ का उपकार करूँगा। (घूमता है)

देवसोमा---स्वामी ! देखो, देखो ! विश्वस्त पुरुषों के आने-जाने वाले इस राज-मार्ग पर, लाल वस्त्र पहने हुए, सब अंगों को सिकोड़े हुए, दोनों ओर दृष्टिपात करता हुआ, संदेहजनक ढंग से पैर रखता हुआ (चलता हुआ) जल्दी-जल्दी जा रहा है।

पश्य पश्य ! एष रक्तपटोऽस्मिन् विश्वस्तपुरुषसम्पाते[३८] राजमार्गे सङ्कुचितसर्वाङ्ग उभयपक्षसञ्चारितदृष्टिः शङ्कितपदविक्षेपस्त्वरितत्वरितं गच्छति ।]

कपाली—प्रिये ! एवमेतत् । अपि चास्य हस्ते चीवरान्तप्रच्छादितं किमप्यस्तीव ।

देवसोमा—भअवं ! तेण हि ओलम्बिअ आसादिअ जाणीमो । [भगवन् ! तेन हि अवलम्ब्यासाद्य जानीवः ।]

कपाली—भवति ! तथा । (उपगम्य) भो भिक्षो ! तिष्ठ ।

शाक्यभिक्षुः—को णु खु मं एवं भणादि (निवृत्यावलोक्य च) अइ अयं एअंव्ववासी दुट्ठकवालिओ । भोदु, इमस्स सुराविब्भमस्स लक्खं ण होमि । [को नु खलु मामेवं भणति । अयि अयमेकाम्रवासी दुष्टकापालिकः । भवतु अस्य सुराविभ्रमस्य लक्ष्यं न भवामि । (सत्वरं[३९] गच्छति ।)

कपाली—प्रिये ! हन्त लब्धं कपालं । अस्य हि मद्दर्शनजनितभयात् त्वरैव[४०] चौर्यसाक्षित्वं प्रतिपन्ना । (द्रुतमुपगम्याग्रतो रुणद्धि) आः धूर्त ! क्वेदानीं गमिष्यसि ।

शाक्यभिक्षुः—कवालिआउस । मा मा एवं । किं एदं (आत्मगतम्) अहो ललिअरूवा उवासिआ । [कापालिकोपासक । मा मैवम् । किमेतत् । अहो ललितरूपा उपासिका ।]

कपाली—भो भिक्षो ! दर्शय[४१] तावत् । यावदेतत् ते पाणौ चीवरान्तः[४२]प्रच्छादितं द्रष्टुमिच्छामि ।

शाक्यभिक्षुः—किं एत्थ पेक्खिदव्वं । भिक्खाभाअणं खु एदं । [किमत्र द्रष्टव्यम् । भिक्षाभाजनं खल्वेतत् ।]

---

३८. सञ्चारे । ३९. त्वरितो ग– । ४०. त्वरयैव ।
४१. —य भवान् । ४२. —न्तरितं द्र —।

कपाली—प्रिये ! हाँ ऐसा ही है और इसके हाथ में चीथड़े के भीतर छिपा हुआ और कुछ भी है।

देवसोमा—भगवन् ! इसलिए पास जाकर पकड़कर मालूम करते हैं।

कपाली—प्रिये ! ठीक है। (पास जाकर) अरे भिक्षु ! ठहर।

शाक्यभिक्षु—(मुड़कर और देखकर) मुझे इस प्रकार कौन बुला रहा है ? अरे यह एकाम्रवासी दुष्ट कापालिक। अच्छा तो मदिरा के नशे में चूर इसका लक्ष्य न बनूं। (जल्दी से जाता है)

कपाली—प्रिये ! अरे कपाल मिल गया। मुझे देखते ही डर जाने के कारण इसकी शीघ्रता ही (इसकी) चोरी का प्रमाण है। (जल्दी से पास जाकर सामने से रोकता है) अरे धूर्त ! अब कहाँ जाता है ?

शाक्यभिक्षु—अरे उपासक कपाली ! नहीं ऐसी बात नहीं है। यह क्या ? (मन ही मन) अहा ! सुन्दर रूप वाली सेविका।

कपाली—अरे भिक्षु ! जरा दिखा। तेरे हाथ में वस्त्र के भीतर छिपे हुए इस (पात्र) को जरा देखना चाहता हूँ।

शाक्यभिक्षु—इसमें देखने योग्य क्या है ? यह तो भिक्षा पात्र है।

कपाली—अतएव द्रष्टुमिच्छामि ।

शाक्यभिक्षुः—आ, उस ! मा मा एवं । पच्छण्णं खु एदं णेदव्वं । [आः, उपासक ! मा मैवम् । प्रच्छन्नं खल्वेतन्नेतव्यम् ।]

कपाली—नूनमेवमादिप्रच्छादननिमित्तं बहुचीवरधारणं बुद्धेनोपदिष्टम् ।

शाक्यभिक्षुः—सच्चं एदं । [सत्यमेतत् ।]

कपाली—इदं तत् संवृत[४३]सत्यम् । परमार्थसत्यं श्रोतुमिच्छामि ।

शाक्यभिक्षुः—भोदु एत्तओ परिहासो । अदिक्कमदि भिक्खावेला । साहेमि अहं । [भवत्वेतावान् परिहासः । अतिक्रामति भिक्षावेला । साधयाम्यहम् ।] (प्रतिष्ठते)

कपाली—आः, धूर्त ! क्व गमिष्यसि । दीयतां मे कपालम् । (चीवरान्तमालम्बते)

शाक्यभिक्षुः—णमो बुद्धाअ । [नमो बुद्धाय ।]

कपाली—नमः खरपटायेति वक्तव्यं येन चोरशास्त्रं प्रणीतम् । अथवा खरपटादप्यस्मिन्नधिकारे बुद्ध एवाधिकः । कुतः—

वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि ।
विप्राणां मिषतामेव कृतवान् कोशसञ्चयम् ॥१२॥

शाक्यभिक्षुः—सन्तं पापं सन्तं पापं । [शान्तं[४४] पापं शान्तं पापम् ।]

कपाली—एवं सुवृत्तस्य तपस्विनः कथमिव पापं न शाम्यति ।

देवसोमा—भअवं ! परिस्सन्तो विअ लक्खीअसि । ण एदं सुहोवाअसुलहं कवालं । ता एदिणा गोसिङ्गेण सुरं पिबिअ जादबलो भविअ इमिणा सह विवादं करेहि । [भगवन् ! परिश्रान्त इव लक्ष्यसे । नैतत् सुखोपायसुलभं कपालम् । तदेतेन गोशृङ्गेण सुरां पीत्वा जातबलो भूत्वानेन सह विवादं कुरु ।]

कपाली—तथास्तु ।

---

४३. —तं परमस—। ४४. शान्तं शान्तं पापम् ।

कपाली—इसीलिए (तो) देखना चाहता हूँ ।

शाक्यभिक्षु—अरे, उपासक ! नहीं ऐसी बात नहीं है । इसे छिपाकर ही ले जाना चाहिए ।

कपाली—अवश्य ही इस प्रकार छिपाने के लिए ही बुद्ध ने बहुत से वस्त्रों को धारण करने का उपदेश दिया है ।

शाक्यभिक्षु—यह सत्य है ।

कपाली—यह तो छिपा हुआ सत्य है । मैं वास्तविक सत्य सुनना चाहता हूँ ।

शाक्यभिक्षु—अच्छा ! इतना हँसी-मजाक काफी है । भिक्षा का समय व्यतीत हो रहा है । मैं जाता हूँ । (जाता है)

कपाली—अरे धूर्त ! कहाँ जाएगा ? मेरा कपाल दे । (वस्त्र का कोना पकड़ता है)

शाक्यभिक्षु—नमो बुद्धाय ।

कपाली—फिर 'खरपट को नमस्कार' इस प्रकार कहना चाहिए, जिसने चोरशास्त्र की रचना की । अथवा इस क्षेत्र में बुद्ध खरपट से भी बढ़कर है । क्योंकि—

जिसने वेदान्तों से (और) महाभारत से भी विषयों को ग्रहण करके, ब्राह्मणों के देखते ही (देखते) कोश भर लिया ॥१२॥

शाक्यभिक्षु—पाप शान्त हो, पाप शान्त हो ।

कपाली—इस प्रकार सदाचारी तपस्वी का पाप कैसे शान्त हो ?

देवसोमा—भगवन् ! थके हुए से दिखाई दे रहे हो । यह कपाल सरलता से मिलने वाला नहीं है । तो इस गोशृङ्ग से मदिरा पीकर शक्तिशाली होकर इसके साथ झगड़ा करो ।

कपाली—ठीक है ।

(देवसोमा कपालिने सुरां प्रयच्छति)

कपाली—(पीत्वा) प्रिये ! त्वयापि श्रमापनोदः कर्तव्यः ।

देवसोमा—भअवं ! तह । [भगवन् ! तथा ।] (पिबति)

कपाली—अयमस्माकमपकारी । संविभागप्रधानः स्वसिद्धान्तः ।[४५] शेषमाचार्याय प्रदीयताम् ।

देवसोमा—जं भअवं आणवेदि । गह्णदु भअवं । [यद् भगवानाज्ञापयति । गृह्णातु भगवान्[४६] ।]

शाक्यभिक्षुः—(आत्मगतम्) अहो सुहोवणदो अब्भुदओ । एत्तओ दोसो—महाजणो पेक्खिस्सदि । (प्रकाशम्) भोदि ! मा मा एवं । ण वड्ढेदि अम्ह्राणं । [अहो सुखोपनतोऽभ्युदयः । एतावान्[४७] दोषः—महाजनो द्रक्ष्यति । भवति ! मा मैवम् । न वर्धतेऽस्माकम् ।] (सृक्वणी लेढि)

देवसोमा—धंस । कुदो दे एत्तिआणि भाअधेआणि । [ध्वंसस्व[४८] । कुतस्ते एतावन्ति भागधेयानि ।]

कपाली—प्रिये ! इयमस्येच्छाविरोधिनी वाग् मुखप्रसेकेन स्खल(य?)ति ।

शाक्यभिक्षुः—इदाणिं वि णत्थि दे करुणा । [इदानीमपि नास्ति ते करुणा ।]

कपाली—यद्यस्ति करुणा, कथं वीतरागो भविष्यामि ।

शाक्यभिक्षुः—एवं वीदरागिणा वीदरोसेण विहोदव्वं [एवं वीतरागिणा वीतरोषेणापि भवितव्यम् ।]

कपालो—वीतरोषो भविष्यामि, यदि मे स्वकं दास्यति ।

शाक्यभिक्षुः—किं दे सअं । [किं ते स्वकम् ।]

कपाली—कपालम् ।

शाक्यभिक्षुः—कहं कवालं । [कथं [४९]कपालम् ।]

---

४५. —न्तः प्रमाणयितव्यः । ४६. भवान् । ४७. अत्र खलु एष दो— । ४८. दुष्ट ! कुतस्ते एतानि भा— । ४९. कस्मिन् क— ।

(देवसोमा कपाली को मदिरा देती है)

कपाली—(पीकर) प्रिये ! तुम्हें भी थकान दूर करनी चाहिए।

देवसोमा—भगवन् ! अच्छा। (पीती है)

कपाली—यह हमारा अपकार करने वाला है। (लेकिन) हमारा सिद्धान्त बराबर बाँटने पर ज़ोर देता है। बचे हुए को आचार्य को दे दो।

देवसोमा—जैसी आप आज्ञा देते हैं। आर्य ग्रहण करें।

शाक्यभिक्षु—(अपने आप) अहा ! (यह) सौभाग्य सहज ही प्राप्त हुआ है। दोष केवल इतना है कि—महात्मा लोग देख लेंगे। (प्रकट) देवि ! नहीं-नहीं। यह हमारे लिए उचित नहीं है। (होंठ चाटता है)

देवसोमा–दूर हो जा। तेरा इतना भाग्य कहाँ ?

कपाली–प्यारी ! इसकी यह इच्छा के विरुद्ध वाणी, मुंह में पानी भर आने के कारण लड़खड़ा रही है।

शाक्यभिक्षु—अब भी तुम्हें दया नहीं आती ?

कपाली—यदि दया रही तो वैरागी कैसे होऊँगा ?

शाक्यभिक्षु—राग से रहित व्यक्ति को क्रोध से रहित (व्यक्ति) भी होना चाहिए।

कपाली–क्रोध नहीं करूँगा, यदि मुझे अपना (कपाल) दे देगा।

शाक्यभिक्षु–तुम्हारा अपना क्या है ?

कपाली—कपाल।

शाक्यभिक्षु—कैसा कपाल ?

कपाली—कथं कपालमित्याह। अथवा युक्तमेतत्।

दृष्टानि वस्तूनि महीसमुद्रमहीधरादीनि महान्ति मोहात्।
अपह्नुवानस्य सुतः कथं त्वमल्पं न निह्नोतुमलं कपालम् ॥१३॥

देवसोमा—भअवं! केवल लालीयमाणो ण दइस्सदि। ता एदस्स हत्थादो आच्छिन्दिअ गच्छामो। [भगवन्! केवलं लाल्यमानो न दास्यति। तदेतस्य हस्तादाच्छिद्य गच्छावः।]

कपाली—प्रिये! तथा। (आच्छेत्तुं व्याप्रियते[५०])

शाक्यभिक्षुः—धंस दुट्ठकवालिअ! [ध्वंसस्व[५१] दुष्ट-कापालिक!]

(हस्तेन नुदन्[५२] पादेन ताडयति)

कपाली—कथं पतितोऽस्मि।

देवसोमा—मुदो सि दासीएवुत्त! (केशापकर्षणं[५३] रूपयित्वा निरालम्बना पतिता) [मृतोऽसि दास्याः पुत्रः!]

शाक्यभिक्षुः—(आत्मगतम्) अघं बुद्धस्स विण्णाणं जेण मुण्डणं दिट्ठं। (प्रकाशम्) उट्ठेहि, उट्ठेहि उसिए! उट्ठेहि। [अहँ (अघं वा) बुद्धस्य विज्ञानं, येन मुण्डनं दृष्टम्। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ उपासिके उत्तिष्ठ।] (इति देवसोमा[५४]मुत्थापयति।)

कपाली—पश्यन्तु पश्यन्तु माहेश्वराः अनेन दुष्टभिक्षुनाम-धारकेण नागसेनेन मम प्रियतमापाणिग्रहणं क्रियमाणम्।

शाक्यभिक्षुः—आ वुस! मा मा एवं। धम्मो खु अम्हाणं विसमपदिदाणुकम्पा। [आ उपासक! (आयुष्मन् वा) मा मैवम्। धर्मः खल्वस्माकं विषमपति[५५]तानुकम्पा।]

कपाली—किमयमपि सर्वज्ञधर्मः, नन्वहं पूर्वं पतितोऽस्मि। भवतु किमनेन। इदानीं तव शिरः कपालं मम भिक्षाकपालं भविष्यति।

---

५०. येते। ५१. स गच्छ दु। ५२. न पादेन पातयति।
५३. केशाकर्षणं। ५४. मां हस्तेन गृह्णाति। ५५. तानां अ—।

कपाली—'कैसा कपाल' कहता है ? अथवा यह ठीक ही है—

पृथ्वी, सागर, पर्वत आदि विशाल प्रत्यक्ष वस्तुओं को मोह के कारण छिपाने वाले (बुद्ध) के पुत्र तुम छोटे से कपाल को छिपाने में कैसे समर्थ नहीं हो ॥१३॥

देवसोमा—स्वामी ! केवल प्यार से नहीं देगा। इसलिए इसके हाथ से छीन कर चलते हैं।

कपाली—प्रिये ! ठीक है। (जबरदस्ती छीनता है)

शाक्यभिक्षु—दुष्ट कापालिक ! दूर हो जा। (हाथ से धकेलता हुआ पैर से मारता है)

कपाली–अरे, मैं गिर पड़ा।

देवसोमा—अरे दासी के पुत्र ! तू मर गया। (बालों को खींचने का अभिनय करके आश्रय न पाकर गिर पड़ती है)

शाक्यभिक्षु—(अपने मन में) बुद्ध का विज्ञान ठीक है, जिन्होंने आज मुण्डन (संस्कार) देखा। उपासिका ! उठो, उठो।

(तब देवसोमा को उठाता है)

कपाली—माहेश्वरो ! देखें, देखें ! यह दुष्ट भिक्षुनामधारी नागसेन मेरी प्रियतमा का पाणिग्रहण कर रहा है (हाथ पकड़ रहा है)।

शाक्यभिक्षु–अरे उपासक ! नहीं ऐसी बात नहीं है। आपत्ति में पड़े हुए पर दया करना हमारा धर्म ही है।

कपाली—क्या यह भी सर्वज्ञ (बुद्ध का) धर्म है। तो पहले मैं गिरा हूँ। अच्छा रहने दे। इससे क्या ? अब तेरे सिर का कपाल मेरा भिक्षा का कपाल (पात्र) होगा।

(सर्वे कलहं रूपयन्ति)

शाक्यभिक्षुः—दुक्खं दुक्खं। [दुःखं दुःखम्।]

कपाली—पश्यन्तु पश्यन्तु, माहेश्वराः। एष दुष्टभिक्षुनामधारको मम भिक्षाकपालं मुषित्वा स्वयमेवाक्रन्दति। भवतु, अहमप्याक्रोशयिष्ये। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!

(ततः प्रविशति पाशुपतः)

पाशुपतः—सत्यसोम! किमर्थमाक्रन्दसि।

कपाली—भो बभ्रुकल्प! अयं दुष्टभिक्षुनामधारको नागसेनो मम भिक्षाकपालं चोरयित्वा दातुं नेच्छति।

पाशुपतः—(आत्मगतम्)[५६] यदस्माभिरनुष्ठेयं, गन्धर्वैः-तदनुष्ठितम्। एष दुरात्मा,

तां क्षौरिकस्य दासीं मम दयितां चीवरान्तर्दर्शितया।
आकर्षति काकण्या बहुशो गां[५७] ग्रासमुष्ट्यैव ॥१४॥

तदिदानीं प्रतिहस्तिप्रोत्साहनेन[५८] शत्रुपक्षं ध्वंसयामि। (प्रकाशम्) भो नागसेन! अप्येवमेतद्, यथायमाह।

शाक्यभिक्षुः—भअवं! तुवं पि एवं भणासि। अदिण्णादाणा वेरमणं सिक्खापदं। अब्बम्हचर्या[५९] वेरमणं सिक्खापदं।[६०] अकालभोअणा वेरमणं सिक्खापदं। अह्माअं बुद्धधम्मं सरणं गच्छामि। [भगवन्! त्वमप्येवं[६१] भणसि। अदत्तादानाद्विरमणं शिक्षापदम्। मृषावादाद्विरमणं शिक्षापदम्। अब्रह्मचर्याद्विरमणं शिक्षापदम्। प्राणातिपाताद्विरमणं शिक्षापदम्। अकालभोजनाद्विरमणं शिक्षापदम्। अस्माकं बुद्धधर्मं शरणं गच्छामि।]

पाशुपतः—सत्यसोम! ईदृश एषां समयः। किमत्र प्रतिवचनम्।

कपाली—नन्वस्माकमनृतं न वक्तव्यमिति समयः।

---

५६ अये! यद्। ५७. गाः। ५८. न अस्मत् श—। ५९. —म्हञ्च।
६०. दं ओअणकालत्थेराने—। ६१. पि न जानासि। अद—।

(सब झगड़े का अभिनय करते हैं)

शाक्यभिक्षु—दु ख है, दुःख है।

कपाली–अरे माहेश्वरो ! देखें, देखें। यह दुष्ट भिक्षु नामधारी मेरा भिक्षा कपाल चुराकर स्वयं ही चिल्ला रहा है। अच्छा मैं भी चिल्लाऊँगा। अमङ्गल ! अमङ्गल !

(तब पाशुपत प्रवेश करता है)

पाशुपत–सत्यसोम ! किसलिए चिल्ला रहे हो ?

कपाली–अरे वभ्रुकल्प ! यह दुष्ट भिक्षु नामधारी नागसेन मेरे भिक्षा कपाल को चुराकर देना नहीं चाहता है।

पाशुपत–(स्वगत) जो हमारे द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए था, उसे गन्धर्वों ने कर दिया। यह दुष्टात्मा,

नाई की उस दासी के समान मेरी प्रिया को (यह) वस्त्र के मध्य से दिखाई देने वाली कौड़ी से, घास की मुट्ठी से गाय (को आकर्षित करने) के समान वार-बार आकर्षित कर रहा है ॥१४॥

इसलिए अब प्रतिद्वन्द्वी के प्रोत्साहन से शत्रुपक्ष को नष्ट करता हूँ। (प्रत्यक्ष) अरे नागसेन ! क्या यह ऐसा ही है जैसा यह (कपाली) कहता है।

शाक्यभिक्षु–भगवन् ! आप भी ऐसा कह रहे हो ? जो (वस्तु) नहीं दी गई है उसे न लेना ही शिक्षापद है, झूठ न बोलना शिक्षापद है, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना शिक्षापद है, प्राणिहिंसा न करना शिक्षापद है, असमय भोजन न करना शिक्षापद है। अपने बुद्ध धर्म की शरण में जाता हूँ।

पाशुपत—सत्यसोम ! इनका इस प्रकार का नियम है। इस विषय में (तुम्हारा) क्या उत्तर है ?

कपाली–अरे हमारा नियम भी तो झूठ न बोलना ही है।

पाशुपतः--उभयमप्युपपन्नम् । कोऽत्र[६२]निर्णयोपाय: ।

शाक्यभिक्षु:—बुद्धवअणं पमाणीकरअन्तो भिक्खूसुराभाअणं गण्हादितिको एत्थ हेदू । [६३][बुद्धवचनंप्रमाणीकुर्वन् भिक्षुसुराभाजनं गृह्णातीति कोऽत्र हेतुः ।]

पाशुपतः—नहि प्रतिज्ञामात्रेण हेतुवादिनः सिद्धिरस्ति ।

कपाली—प्रत्यक्षे हेतुवचनं निरर्थकम् ।

पाशुपतः—कथं प्रत्यक्षमेव ।

देवसोमा—भअवं एदस्स हत्थे चीवरान्तप्पच्छादिदं कवालं । [भगवन् ! एतस्य हस्ते चीवरान्तःप्रच्छादितं कपालम् ।]

पाशुपतः—श्रुतं भवता ।

शाक्यभिक्षु:—भो भअवं ! एदं कवालं ण परकेरअं । [भो भगवन् एतत् कपालं न परकीयम् ।]

कपाली—तेन हि दर्शय तावत् ।

शाक्यभिक्षु:—तह । [तथा ।] (दर्शयति)

कपाली—पश्यन्तु पश्यन्तु माहेश्वराः ! [६४]कापालिकेन कृतमन्याय्यमस्य भदन्तस्य साधुवृत्ततां च ।

शाक्यभिक्षु:— अदिण्णादाणा वेरमणं सिक्खापदं । [अदत्तादानाद्विरमणं[६५] शिक्षापदम् ।][६६] (इति पुनस्तदेव पठति)

(उभौ नृत्यतः)

शाक्यभिक्षु:—हद्धि । [६७]लज्जिदव्वे काले णच्चदि । [हा धिक् लज्जितव्ये काले नृत्यति ।]

कपाली—आः को नृत्यति । (सर्वतो विलोक्य)[६८] आ मम नष्टभिक्षाभाजन[६९]दर्शनकुतूहलमलयानिलप्रयुक्ताया ध्रुवमस्य नृत्तबुद्धि प्रीतिलताया विलसितेषु ।

---

६२. को नि । ६३. भो बुद्ध—। ६४. कापालिने कृ—। ६५. णं मुनि शि । ६६. दम् । (इत्यादि पठित्वा उभौ नृत्यतः) ६७. उदिदव्वे का । ६८. विलोक्य आत्मगतम् । ६९. भाजनजनितकुतूहल··· ।

पाशुपत—दोनों (के) ही (नियम) युक्तिपूर्ण हैं। इसमें निर्णय का क्या उपाय है ?

शाक्यभिक्षु—बुद्ध के वचन को प्रमाण मानने वाला भिक्षु मदिरा के पात्र को लेता है, इसका क्या कारण है ?

पाशुपत—(किन्तु) प्रतिज्ञामात्र से हेतुवादियों की सिद्धि नहीं होती।

कपाली—प्रत्यक्ष (प्रमाण) में हेतुवाद निरर्थक है।

पाशुपत–प्रत्यक्ष ही कैसे ?

देवसोमा—स्वामी ! इसके हाथ में वस्त्र के भीतर छिपा हुआ कपाल है।

पाशुपत—आपने सुना !

शाक्यभिक्षु—अरे भगवन् ! यह कपाल दूसरे का नहीं है।

कपाली—तो जरा दिखा।

शाक्यभिक्षु—अच्छा। (दिखाता है)

कपाली—अरे माहेश्वरो ! कापालिक द्वारा किए गए अन्याय को और इस बौद्ध भिक्षु की सज्जनता को देखें, देखें।

शाक्यभिक्षु—न दी गई वस्तु को न लेना शिक्षापद है। (इस प्रकार फिर उसी को दोहराता है)

(दोनों नाचते हैं)

शाक्यभिक्षु–अरे धिक्कार है। लज्जित होने के अवसर पर नाच रहा है।

कपाली–अरे कौन नाच रहा है। (चारों ओर देखकर) अरे ! मेरे खोए हुए भिक्षा के पात्र को देखने से कौतूहल के कारण मलय (पर्वत) की वायु से हिलती हुई प्रेम रूपी लता के विलासों में इसकी बुद्धि नृत्तमयी ही हो गई है। (अर्थात् इसे नाच ही दिखाई दे रहा है।)

शाक्यभिक्षुः—भअवं ! केण कारणेण एदं ण लक्खीअदि। भोः अचिक्खदु भअवं। इमस्स वराणो। ७०[भगवन् केन कारणे-नेतन्न लक्ष्यते। भोः आचष्टां भगवान् । अस्यायं वर्णः ।]

कपाली—किमत्र७१ वक्तव्यम् । ननु मया दृष्टम् । काकादपि कृष्णमिदं कपालम् ।

शाक्यभिक्षुः—तेण हि एदं ममकेरअ ति सअं एव अब्भुवगदं। [तेन ह्येतन्मदीयमिति स्वयमेवाभ्युपगतम् ।]

कपाली—सत्यमभ्युपगतं तव वर्णान्तकरणे नैपुण्यम् ! पश्य,

यदेतदासीत् प्रथमं स्वभावतो मृणालभङ्गच्छविचोरमम्बरम् ।
ननु त्वया नीतमचिन्त्यकर्मणा तदेव बालारुणरागताम्रताम् ।।१५।।

अपिच,

आवृतं बहिरन्तश्च कषायेणानपायिना ।
त्वां प्राप्तं स्यात् कथं नाम कपालमकषायितम् ।।१६।।

देवसोमा—हा हदह्मि मन्दभाआ। सव्वलक्खणसम्पण्णदाए कमलासणसीसकवालाणुभावस्स पुण्णमासिसोमदंसणस्स णिच्चसुरा-गन्धिणो एदस्स मलिनपडसंसग्गेण इअ ईदिसी अवत्था संवुत्ता। [हा हतास्मि मन्दभागा। सर्वलक्षणसम्पन्नतया कमलासनशीर्षकपा-लानुभावस्य पौर्णमासीसोमदर्शनस्य नित्यसुरागन्धिन एतस्य मलिन-पटसंसर्गेणेयमीदृश्यवस्था संवृत्ता।] (इति रोदिति)

कपाली—प्रिये ! अलं सन्तापेन। पुनःशुचिर्भविष्यति। श्रूयन्ते हि महान्ति भूतानि प्रायश्चित्तैरपनीतकल्मषाणि भवन्ति। तथा हि–७२

आस्थाय प्रयतो महाव्रतमिदं बालेन्दुचूडामणिः
स्वामी नो मुमुचे पितामहशिरश्छेदोद्भवादेनसः ।
नाथोऽपि त्रिदिवौकसां त्रिशिरसं त्वष्टुस्तनूजं पुरा
हत्वा यज्ञशतेन शान्तदुरितो भेजे पुनःपुरायताम् ।।१७।।

भो ! बभ्रुकल्प ! नन्वेवमेतत् !

पाशुपतः—आगमानु७३गतमभिहितम् ।

---

७०. भो भगवन्। ७१. किमनृतन्ननु मया। ७२. यथा। ७३. —नुरूपमभि—।

शाक्यभिक्षु–हे भगवन् ! यह किस कारण से दिखाई नहीं दे रहा है ? अरे भगवान् ! आप बताएँ, इसका यह रंग ।

कपाली—इसमें कहना क्या ? मैंने निश्चित रूप से देखा है । यह कपाल कौए से भी काला है ।

शाक्यभिक्षु—इसीलिए तो यह मेरा (ही) है, यह (तुमने) स्वयं सिद्ध कर दिया ।

कपाली—रंग बदलने में तो तुम्हारी निपुणता अवश्य ही सिद्ध हो गई । देखो,

जो यह वस्त्र पहले स्वाभाविक रूप से कमलनाल के तन्तु की सुन्दरता को चुराने वाला (सफेद) (था) वही अब अचिन्त्यकर्मा तुम्हारे द्वारा (प्रातःकालीन) नवीन सूर्य की लालिमावाला बना दिया गया है ।।१५।।

और भी,

गेरुए रंग के वस्त्र (चीवर) से बाह्य और अन्तःस्वरूप को ढकने वाले तुमको प्राप्त हुआ यह कपाल भला कैसे अकषायित (रंगे बिना) रह सकता है ।।१६।।

देवसोमा—हाय ! मन्दभागिनी मैं मारी गई । सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होने के कारण ब्रह्मा के शिरःकपाल का अनुकरण करने वाले, पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश दर्शनीय, सदैव मदिरा की गन्ध से युक्त इस (कपाल) की मैले वस्त्रों के सम्पर्क से यह ऐसी दशा हो गई है । (ऐसा कहकर रोती है)

कपाली—प्रिये ! दुःखी मत होओ । फिर से पवित्र हो जाएगा । ऐसा सुना जाता है कि महान् लोग प्रायश्चित्त के द्वारा पापों से रहित (निष्पाप) हो जाते हैं । जैसे कि—

नवीन चन्द्रमारूपी चूड़ामण्डल वाले हमारे स्वामी (शिव) ब्रह्मा के सिर को काटने से उत्पन्न पाप के कारण इस (प्रायश्चित्त-रूपी) महाव्रत का नियमपूर्वक पालन करके (पाप) मुक्त हुए । प्राचीन काल में देवताओं के स्वामी (इन्द्र) ने भी त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा को मारकर, सौ यज्ञ (करने) से पापों को शान्त कर, फिर से पुण्यत्व का सेवन किया ।।१७।।

बभ्रुकल्प ! निस्संदेह ऐसा ही है ।

पाशुपत—आगम के अनुसार ही कहा है ।

शाक्यभिक्षुः—भो[७४]वण्णो दाव मए किदो। इमस्स लण्ठाणपरिमाणं केण णिम्मिदं। [भोः! वर्णास्तावन्मया कृतः। अस्य संस्थानपरिमाणं[७५] केन निर्मितम्।]

कपाली—ननु मायासन्तानसम्भवाः खलु भवन्तः।

शाक्यभिक्षुः—केत्तिअं वेलं भवन्तं अक्कोसामि। गण्हदु भअवं। [कियतीं वेलां भवन्तमाक्रोशामि। गृह्णातु भगवान्।]

कपाली—नूनमेवं बुद्धेनापि दानपारमिता पूरिता।

शाक्यभिक्षुः—एवं गदे किं दाणिं मे सरण। [एवं गते किमिदानीं मे शरणम्।]

कपाली—ननु बुद्धधर्मसङ्घाः।

पाशुपतः—नायं व्यवहारो मया परिच्छेत्तुं शक्यते। तदधिकरणमेव यास्यामः।

देवसोमा—भअवं! जइ एवं, णमो कवालस्स। [भगवन्! यद्येवं, नमः कपालाय।]

पाशुपतः—कोऽभिप्रायः।

देवसोमा—एषो उण अणोअ विहारभोअसमधिगवित्तसञ्चओ जहाकामं अधिकरणकारुणिआणं मुहाणि पूरेदुं पारेदि। अह्माअं पुण अहिचम्म भूदिमत्तविभवस्सदरिद्दकवालिअस्स परिआरिआणं को एत्त विभवो अधिकरणं पविसिदुं। [एष पुनरनेकविहारसमधिगतवित्तसञ्चयो यथाकामम[७६]धिकरणकारणिकानां[७७] मुखानि पूरयितुं पारयति। अस्माकं पुनरहिचर्मभूतिमात्रविभवस्य[७८] दरिद्रकापालिकस्य परिचारिकाणां कोऽत्र विभवोऽधिकरणं प्रवेष्टुम्]

पाशुपतः—नैतदेवम्[७९]—

अजिह्मैः सारगुरुभिः स्थिरैः श्लक्ष्णैः सुजन्मभिः।
तैर्धर्मो धार्यते स्तम्भैः प्रासाद इव साधुभिः ॥१८॥

---

७४. भोदु वण्णं। ७५. णं तावत् कथम्। ७६. सं कारु।
७७. —कारुणिका। ७८. —वदरिद्र। ७९. मा मैवम्—।

शाक्यभिक्षु—अरे ! ठीक है (माना कि) रंग तो मैंने बदल दिया। (परन्तु) इसका आकार और परिमाण किसने बदला ?

कपाली—आप लोग तो माया की ही सन्तान हैं।

शाक्यभिक्षु—कितनी देर तक आपकी निंदा करूँ भगवन् ! लीजिए।

कपाली—वस्तुत: बुद्ध ने भी इस प्रकार दानपारमिता पूर्ण की थी।

शाक्यभिक्षु—इसके बाद अब मेरी शरण कहाँ ?

कपाली—निस्संदेह बुद्धधर्म के सङ्घ।

पाशुपत—इस विवाद का निर्णय करना मेरे लिए असम्भव है। तो न्यायालय ही चलते हैं।

देवसोमा—यदि ऐसा है तो कपाल को नमस्कार।

पाशुपत—क्या मतलब ?

देवसोमा—फिर यह अनेक मठों से प्राप्त हुई धनराशि वाला, इच्छानुसार न्यायालय के अधिकारियों के मुखों को (रिश्वत देकर) भर सकता है। लेकिन सर्प की केंचुली मात्र जिसकी सम्पत्ति है ऐसे दरिद्र कापालिक की हम जैसी सेविकाओं के पास न्यायालय में प्रवेश के लिए कौन साधन है ?

पाशुपत—नहीं ऐसी बात नहीं है।

सरल (स्तम्भ पक्ष में—सीधे) सारगर्भ के कारण गुरु बने हुए (पक्ष में—भारी), धैर्यशाली (पक्ष में—ठोस), नम्र (पक्ष में—चिकने), सत्कुलोत्पन्न (पक्ष में—अच्छी नस्ल वाले) उन साधुओं द्वारा धर्म वैसे ही धारण किया जाता है, जैसे स्तम्भों से महल (धारण किया जाता है) ॥१८॥

कपाली—कृतमनेन। कुतश्चिदपि न्याय्यवृत्तेर्भयं नास्ति।

शाक्यभिक्षुः—भो भअवं! तुमं दाव अग्गदो होहि। [भो[८०] भगवन्! त्वं तावदग्रतो भव]

पाशुपतः—बाढम्।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशत्युन्मत्तकः)

उन्मत्तकः—एशे एशे दुट्ठकुक्कुले। शुल्लमंशगब्भं कवालं गण्हिअं धावशि। दाशीएवुत्त! कहिं गमिश्शिशि। एशे दाणिं कवालं णिक्खिविअ मं खायिदुकामो अहिमुहं आहावइ। इमिण पत्थलेण दन्ताणि शे भंजिइशं। कहं कवालं उज्झिअ पलाअशि। उम्मत्ते दुट्ठकुक्कुले ईदिशेण णाम शूलत्तणेण मए शह विलोशं कलेशि। गामशूगलं आलुहि अ गगणमुप्पदिदेण शागलेण पडिभञ्जिअ लावणं बला गहीदे शाक्कशुदे तिमिङ्गले। अइ एलण्डलुक्ख! किं भणाशि—अलिअं अलिअं त्ति। णां एशे मुशलशमविशाललम्बहत्थे दद्दले मे शक्खी। अहव तेल्लोक्कविदिअपलक्कमश्श शक्खिणा किं कय्यं। एवं कलिश्शं। कुक्किलखादिअशेशं मंशखण्डं खादिश्शं। हा हा मालिदोम्हि, बप्फेण मालिदोम्हि। के एशे मं तालेशि। दुट्ठदालआ जश्शवा कश्श वा भाअणोओ खु अहं भीमशेणश्श घटुक्कओ विअ। अविअशुणाथ,

गहीदशूला बहुवेशधालिणो शदं पिशाआ उदले वहन्ति मे।
शदं च वग्घाण णिशग्गभीशणं मुहेण मुञ्चामि अहं महोलये॥

कहं मं बाहन्ति। पशीदन्तु पशीदन्तु दालअभट्टा। इमश्श मंशखण्डश्श कालणादो मामं बाहेह। एशे खु अम्हाणं आआलिए शूलनन्दी जावं णं अवशप्पामि। [एष एष दुष्टकुक्कुरः। शूल्यमांसगर्भं कपालं गृहीत्वा धावसि[८१]। दास्याःपुत्र! कुत्र गमिष्यसि। एष इदानीं कपालं निक्षिप्य मां खादितुकामोऽभिमुखमाधावति। (दिशो विलोक्य) अनेन प्रस्तरेण दन्तानस्य भङ्क्ष्यामि। कथं कपालमुज्झित्वा पलायसे। उन्मत्तो दुष्टकुक्कुर ईदृशेन नाम शूरत्वेन[८२] मया सहापि[८३] रोषं

८०. (पाशुपतमवलोक्य) भो। ८१. धावति। ८२. न सह। ८३. ह विरोधं क—।

कपाली—इसकी आवश्यकता नहीं। न्यायी व्यक्ति को कहीं से भी भय नहीं होता है।

शाक्यभिक्षु–हे भगवन्! तब तुम्हीं आगे चलो।

पाशुपत—अच्छा।

(सब घूमते हैं)

(तब पागल व्यक्ति प्रवेश करता है)

उन्मत्तक–यह दुष्ट कुत्ता। शूल्यमांस से युक्त कपाल को लेकर भाग रहा है। ओ दासी के पुत्र! कहाँ जायगा? अब यह कपाल को फेंककर मुझे खाने की इच्छा से इधर की ओर दौड़ा आ रहा है। (चारों ओर देखकर) इस पत्थर से इसके दाँतों को तोड़ दूंगा। क्या? कपाल को छोड़कर भाग रहा है? पागल दुष्ट कुत्ते इस प्रकार की वीरता के बल पर मुझसे क्रोध करता है। गाँव के सूअर पर चढ़कर आकाश में उड़ने वाले समुद्र ने रावण को कुचल कर इन्द्र के पुत्र तिमिङ्गल को बलपूर्वक पकड़ लिया था। अरे एरण्ड के वृक्ष! क्या कहते हो—झूठ है, झूठ है। लेकिन मुसल के समान अत्यधिक लम्बे हाथ वाला यह मेढक मेरा साक्षी है। अथवा तीनों लोकों में विख्यात पराक्रमी को साक्षी की क्या आवश्यकता? (तो) ऐसा करता हूँ। कुत्ते के खाने के बाद अवशिष्ट माँस के टुकड़े को खाऊँगा। (खाता हुआ भ्रान्त होकर) हाय! हाय! आँसुओं से मारा

करोषि। ग्रामशूकर[८४]मारुह्य गगनमुत्पतितेन सागरेण[८५] प्रभ-[८६]ञ्ज्यरावणं[८७] बलाद्गृहीतः[८८]शक्रसुतस्तिमिङ्गिलः[८९]। अयि एरण्डवृक्ष! किं भणसि अलीकमलीकमिति। नन्वेष मुसलसम-विशाललम्बहस्तो दर्दुरो मे साक्षी[९०]। अथवा त्रैलोक्यविदित-पराक्रमस्य साक्षिणा किं कार्यम्[९१]। एवं[९२] करिष्यामि। कुक्कुर-खादितशेषं मांसखण्डं खादिष्यामि। (खादन्भ्रान्तः) हा हा मारितोऽस्मि वाष्पेण[९३] मारितोऽस्मि (रुदित्वा विलोक्य) क एष मां ताडयसि। (विलोक्य) दुष्टदारकाः! यस्य वा कस्य वा भागिनेयः खल्वहं भीमसेनस्य घटोत्कच इव। अपि च शृणुथ

गृहीतशूला बहुवेशधारिणाः शतं पिशाचा उदरे वहन्ति[९४]मे।
शतं च व्याघ्राणां निसर्गभीषणं मुखेन मुञ्चाम्यहं महोरगान् ॥१९॥

कथं मां बाधन्ते। प्रसीदन्तु दारकभर्तारः। अस्थमांसखण्डस्य कार-णाद् मा मां[९५] बाधध्वम्। (अग्रतो विलोक्य) एष खल्वस्माकमा-चार्यः शूरनन्दी। यावदेनमुपसर्पामि।] (इति धावति)

पाशुपतः—अये! अयमुन्मत्तकः इत एवाभिवर्तते। य एषः,

निर्विष्टोज्झितचित्रचीवधररो रूक्षैर्नितान्ताकुलैः
केशैरुद्धतभस्मपां[९६]सुनिचयैर्निर्माल्यमालाकुलैः[९७] ।
उच्छिष्टाशनलोलुपैर्बलिभुजामन्वास्यमानो गणै—
र्भूयान् ग्रामकसारसञ्चय इव भ्राम्यन् मनुष्याकृतिः ॥२०॥

---

८४. र गल मा—। ८५. श्वगणेन। ८६. प्रतिभञ्ज्य।
८७. ञ्ज्य ऐरावतं गृ—। ८८. तः ससुतः।
८९. ग्रामसूकरः कुक्कुरः, तस्य गलं कण्ठं, गगनमुत्पतितेन मया श्वगणेन सह ऐरावतं प्रतिभञ्ज्य गृहीतः ससुतस्तिमिङ्गिल इति उन्मत्तप्रलापः।
९०. हनूमत एषा मुसलसमविशाललम्बहस्ते दर्दुरे मे शक्तिः।
९१. अथवा किं मम त्रैलोक्यविदितपराक्रमस्य शक्त्या कार्यम्।
९२. —वं तावत् करिष्ये। ९३. मालितोऽस्मि वाष्पेण।
९४. —स—। ९५ मां ताडयथ। ९६. पाण्डुनि—।
९७. —लावृतः,—लावृतैः।

गया। (रोकर, देखकर) यह कौन मुझे मार रहा है! (देखकर) अरे दुष्ट लड़को! मैं भीमसेन का घटोत्कच के समान जिस किसी का भी भान्जा हूँ, और भी सुनो—

शूल ग्रहण किए हुए, नाना वेषधारी सैकड़ों पिशाच मेरे पेट में घूम रहे हैं। स्वभाव से भयङ्कर मैं सैकड़ों बाघों को और बड़े-बड़े सर्पों को मुख से उगल रहा हूँ ॥१९॥

मुझे कष्ट क्यों दे रहे हो? अरे युवको! प्रसन्न हो जाओ। इस मांस के टुकड़े के कारण मुझको कष्ट मत दो। (सामने देखकर) अरे ये हमारे गुरु शूरनन्दी! तो इनके पास जाता हूँ। (दौड़ता है)

पाशुपत—अरे यह पागल इधर ही आ रहा है। जो यह—

सूखे हुए, अत्यधिक बिखरे हुए, उड़ती हुई भस्म और धूलि समूह से भरे हुए, बासी मालाओं से व्याप्त बालों से, जूठा खाना खाने के लिए लोलुप कौओं के समूह जिसका पीछा कर रहे हैं (ऐसा), पहनने के पश्चात् छोड़े हुए विचित्र वस्त्र धारण करने वाला, मानों बहुत सारा गाँव के कूड़े का ढेर ही मनुष्य का आकार धारण करके घूमता हुआ (इधर ही आ रहा है) ॥२०॥

उन्मत्तकः—जावणं उपशप्पमि। महाशाहुणो चराधाल कुक्कुलश्श शआशादो अहि अदं एदं कवालं पडिगण्हदु भअवं। [[९८]यावदेनमुपसर्पामि। (उपसृत्य) महासाधोश्चण्डालकुक्कुरस्य सकाशादधिगतमेतत्[९९]कपालं प्रतिगृह्णातु भगवान्[१००]।]

पाशुपतः—(सदृष्टिक्षेपम्) पात्रे प्रतिपाद्यताम्।

उन्मत्तकः—महाबम्हण! कलिअदु पशादो। [महाब्राह्मण! क्रियतां प्रसादः।]

शाक्यभिक्षुः—एषो महापासुवदो एदस्स जोग्गो। [एष महापाशुपत एतस्य योग्यः।]

उन्मत्तकः—(कपालिनमुपगम्य कपालं भूमौ निक्षिप्य प्रदक्षिणीकृत्य पादयोः पतित्वा) महादेव! कलिअदु पशादो। एशो दे अञ्जली। [महादेव! क्रियतां प्रसादः। एष तेऽञ्जलिः।]

कपाली—[१०१]अस्मदीयं[१०२] कपालम्।

देवसोमा—एवं एद [[१०३]एवमेतत्।]

कपाली—भगवत्प्रसादात् पुनरपि कपाली संवृतः। (गृहीतुमिच्छति।)

उन्मत्तकः—दाशीएवुत्त! विशं खादेहि। [दास्याःपुत्र! विषं खाद।] (कपालमाच्छिद्य गच्छति)

कपाली—(अनुसृत्य) एष[१०४] यमपुरुषो मे जीवितं हरति। अभ्यवपद्येतां भवन्तौ।

उभौ—होदु अम्हे दे सहाआ होम। [भवतु! आवां ते सहायौ भवावः।]

(सर्वे रुन्धन्ति)

कपाली—भोः! तिष्ठ तिष्ठ।

उन्मत्तकः—किश्श मं लुन्धन्ति। [कस्मान्मां रुन्धन्ति।]

कपाली—अस्मदीयं कपालं दत्वा गम्यताम्।

उन्मत्तकः—मूढ! कि ण पेक्खशि, शुवण्णभाअणं खु एदं। [मूढ! किं न पश्यसि, सुवर्णभाजनं खल्वेतत्।]

---

९८. (पाशुपतमवलोक्य) याव—।
९९. —शाद् मया अधि—।
१००. भवान्! भगवान्! मस्तकेन वन्दामि।
१०१. प्रिये अस्म—।
१०२. —दीयमिदं क—।
१०३. भगवन् एव—।
१०४. हन्त यम—।; कष्टं एषः।

उन्मत्तक—अब इसके पास जाता हूँ। (पास जाकर) महासज्जन चण्डाल के कुत्ते से प्राप्त इस कपाल को भगवन् ग्रहण करें।

पाशुपत—(दृष्टि तिरछी कर) उचित पात्र को दें।

उन्मत्तक— महाब्राह्मण ! कृपा कीजिए।

शाक्यभिक्षु—यह महापाशुपत इसके योग्य है।

उन्मत्तक—(कपाली के पास जाकर कपाल को पृथ्वी पर रखकर, प्रदक्षिणा करके, पैरों पर गिर कर) महादेव ! कृपा कीजिए। तुम्हारे लिए यह अञ्जलि है।

कपाली—हमारा कपाल !

देवसोमा—हाँ।

कपाली—भगवान् की कृपा से फिर कपाली बन गया। (लेना चाहता है)

उन्मत्तक—अरे दासी के पुत्र ! विष खा। (कपाल छीनकर जाने लगता है)

कपाली—(पीछा करके) यह यमदूत मेरे प्राणों को ले रहा है। आप दोनों इसे पकड़ें।

दोनों—ठीक है। हम दोनों तुम्हारे सहायक बनते हैं।

(सब रोकते हैं)

कपाली—अरे ! ठहरो, ठहरो।

उन्मत्तक—मुझे क्यों रोक रहे हो।

कपाली—हमारे कपाल को देकर जाओ।

उन्मत्तक—मूर्ख ! क्या देखता नहीं है, यह तो सोने का पात्र है।

कपाली—एवंविधं सुवर्णभाजनं केन कृतम् ।

उन्मत्तक—एदिणा शुवण्णवराणपडावुदेण शुवण्णकारावुत्त-एण किदं त्ति भअवं ! शुवण्णभाअण त्ति भणामि । [एतेन सुवर्णवर्ण-पटावृतेन सुवर्णकारा[१०५]वुत्तेन कृतमिति भगवन् ! सुवर्णभाजन-मिति भणामि ।]

शाक्यभिक्षुः—किं भणसि ।

उन्मत्तकः—शुवण्णभाअणं त्ति । [सुवर्णभाजनमिति ।]

शाक्यभिक्षुः—किमअं उम्मत्तओ । [किमयमुन्मत्तकः ।]

उन्मत्तकः—उम्मत्तओ त्ति बहुशो एदं शद्द शुणोमि । एदं गण्हिअ दलिशेहि उम्मत्तअं । [[१०६]उन्मत्तक इति बहुश एतं शब्दं शृणोमि । एतद् गृहीत्वा दर्शयोन्मत्तकम् ।] (कपालिने कपालं प्रयच्छति)

कपाली—(कपालं गृहीत्वा) अयमिदानीं कुड्येनान्तर्हितः । शीघ्रमनुगम्यताम् ।

उन्मत्तकः—लद्धप्पशादे ह्मि । [लब्धप्रसादोऽस्मि ।]

(निष्क्रान्तो जवेनोन्मत्तकः)

शाक्यभिक्षुः—अहो अच्छरिअं । परवक्खस्स लाभेण अहं परितुट्ठो ह्मि । [अहो आश्चर्यम् । परपक्षस्य लाभेनाहं परितुष्टोऽस्मि ।]

कपाली—(कपालं परिष्वज्य)

चिरं मया चरितमखण्डितं तपो
　　महेश्वरे भगवति भक्तिरस्ति[१०७] मे ।
तिरोहितः स तु सहसा सुखेन न-
　　स्त्वमद्य यत् कुशलि कपाल ! दृश्यसे ॥२१॥

देवसोमा—भअवं ! चन्दसमागदं विअ पओसं भअवन्तं पेक्खन्तीए अज्ज आणन्ददो विअ मे दिट्ठी । [भगवन् ! चन्द्रसमा-गतमिव प्रदोषं भगवन्तं पश्यन्त्या अद्यानन्दतीव मे दृष्टिः ।]

---

१०५. —कारेण कृत— ।

१०६ युष्माकं उन्मत्तका । युष्माकं पुत्रा उन्मत्तकाः । एतद् दत्वा दर्शयामि उन्मत्तकत्वम् ।　　१०७. अस्तु ।

कपाली–ऐसा सोने का पात्र किसने बनाया।

उन्मत्तक–भगवन्! सुनहरे वर्ण वाले वस्त्र से (शरीर को) ढकने वाले मेरे सुनार भगिनीपति ने बनाया है। इसलिए सोने का पात्र है (ऐसा) कह रहा हूँ।

शाक्यभिक्षु–क्या कह रहे हो?

उन्मत्तक–सोने का पात्र।

शाक्यभिक्षु–क्या यह पागल है?

उन्मत्तक—'पागल' यह शब्द वार-वार सुनता हूँ। इसे (कपाल को) लेकर (मुझे) पागल को दिखाओ। (कपाली को कपाल देता है)

कपाली—(कपाल को लेकर) यह तो अब दीवार से ओझल हो गया। जल्दी से पीछा करो।

उन्मत्तक—मुझे प्रसन्नता हुई।

(पागल तेजी से निकल जाता है)

शाक्यभिक्षु—अरे आश्चर्य है। मैं शत्रुपक्ष के लाभ से हर्षित हुआ।

कपाली—(कपाल का आलिङ्गन करके)

मैंने वहुत समय तक अखण्ड तप किया है। भगवान् शिव में मेरी भक्ति है। वह (पागल) तो अचानक सरलतापूर्वक ओझल हो गया, (किन्तु) हमारे कुशल कपाल! तुम आज दिखाई दें रहे हो ॥२१॥

देसवोमा–स्वामी! चन्द्रमा के साथ आए हुए संध्याकाल के समान आपको देखती हुई मेरी दृष्टि आज प्रफुल्लित हो रही है।

पाशुपतः—दिष्ट्या भवान् वर्धते ।

कपाली—नन्वभ्युदयो भवतामेव ।

पाशुपतः—(आत्मगतम्) सत्यमेतत् — नास्त्यदोषवतां भयमिति[१०८]। यदयमद्य[१०९] भिक्षुर्व्याघ्रमुखात्[११०] परिभ्रष्टः। (प्रकाशम्) यावदहमिदानीमेव सुहृदभ्युदयकृतमानन्दं पुरोधाय भगवतः पूर्व[१११]स्थली[११२]निवासिनो धूमवेलां[११३] प्रतिपालयामि[११४]। अयं चाद्यप्रभृति—

विरोधः पूर्वसम्बद्धो युवयोरस्तु शाश्वतः।
परस्परप्रीतिकरः किरातार्जुनयोरिव ॥२२॥

(निष्क्रान्तः पाशुपतः)

कपाली—भो नागसेन ! यन्मयापराधः कृतः, तत् प्रसन्नहृदयं त्वामिच्छामि ।

शाक्यभिक्षुः—किं एद पि अब्भत्थणीअं। किं दे प्रिअं करेमि । [किमेतदप्यभ्यर्थनीयम् । किं ते प्रियं करोमि ।]

कपाली—यदि मे भगवान् प्रसन्नः किमतः परमहमिच्छामि ।

शाक्यभिक्षुः—गच्छामि दाव अहं । [गच्छामि तावदहम् ।]

कपाली—गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।

शाक्यभिक्षुः—तह होदु । [तथा भवतु ।] (निष्क्रान्तः)

कपाली—प्रिये देवसोमे ! गच्छावस्तावत् ।

(भरतवाक्यम्)

शश्वद् भूत्यै प्रजानां वहतु विधिहुतामाहुतिं जातवेदा
वेदान् विप्रा भजन्तां सुरभिदुहितरो भूरिदोहा भवन्तु ।
उद्युक्तः स्वेषु [११५]धर्मेष्वयमपि विगतव्यापदाचन्द्रतारं
राजन्वानस्तुशक्तिप्रशमितरिपुणा शत्रुमल्लेन लोकः ॥२३॥

(निष्क्रान्तौ)

(मत्तविलासप्रहसनं समाप्तम्)

---

१०८. —ति अय— । १०९. —द्य व्याघ्र ।
११०. —त् कथमपि प— । १११. —र्वं । ११२. ल ।
११३. —लां सम्भावयामि । अयं — । धूम्रवेलां । ११४. —मि अद्य— ।
११५. कर्मेष्वय— ।

पाशुपत – सौभाग्यवश आपकी उन्नति हो रही है।

कपाली—उन्नति तो आपकी ही है।

पाशुपत–(स्वगत) यह सत्य है—(कि) निर्दोष को भय नहीं होता है, जो आज यह भिक्षु वाघ के मुख से वच गया। (प्रकट) तो मैं इसी समय मित्र के अभ्युदयजन्य आनन्द को ही सामने रखकर सर्वप्रथम भगवान् (महादेव) की संध्याकालीन अर्चना करने जाता हूँ। और आज से यह—

तुम दोनों का किरात और अर्जुन के समान पूर्वसम्बद्ध विरोध सदैव आपस में प्रेमवर्धक होवे ॥२२॥

(पाशुपत निकल जाता है)

कपाली—अरे नागसेन ! क्योंकि मैंने अपराध किया है, इसलिए (अब) तुमको प्रसन्न हृदय (देखना) चाहता हूँ।

शाक्यभिक्षु—क्या ये भी प्रार्थनीय है ? तुम्हारा क्या उपकार करूँ ?

कपाली—यदि भगवान् (आप) मुझसे प्रसन्न हैं तो इससे अधिक क्या इच्छा करूँ ?

शाक्यभिक्षु–तो मैं जाता हूँ।

कपाली–पुनर्दर्शन के लिए आप जाएं।

शाक्यभिक्षु–ठीक है। (निकल जाता है)

कपाली–प्रिये देवसोमा ! चलो चलें।

(भरतवाक्य)

अग्नि, विधिपूर्वक हवन की गई आहुति को सदैव प्रजा के ऐश्वर्य के लिए वहन करे। ब्राह्मण लोग वेद पढ़ें, कामधेनु की पुत्रियाँ (गायें) अत्यधिक दूध देने वाली होवें, और यह संसार भी अपने धर्मों में लगा हुआ, जब तक चन्द्रमा और तारे हैं (तब तक) विपत्ति रहित हो (और) शक्ति से जिसने शत्रुओं को शान्त कर दिया है ऐसे शत्रुमल्ल (नाम के राजा) से सनाथ होवे ॥२३॥

(निकल जाते हैं)

॥ मत्तविलास प्रहसन समाप्त ॥

प्रहसन के पात्र

पुरुष-पात्र

सत्यसोम—एक कपालधारी, शैव तान्त्रिक एवं प्रहसन का नायक।

नागसेन—एक पतित बौद्धभिक्षु।

बभ्रुकल्प—पाशुपत; शैव-मतानुयायी।

उन्मत्तक—एक पागल।

स्त्री-पात्र

देवसोमा—कापालिक की सहचरी।

टिप्पणियाँ

नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः(पृ० २२)—

'नन्दयतीति नान्दी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार देव, ब्राह्मण और राजादिकों को आनन्दित करने वाली स्तुति 'नान्दी' कहलाती है—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ सा०द० ६.२४

विश्वनाथ आदि आचार्यों के मतानुसार नान्दी तो वास्तव में पूर्वरङ्ग का रङ्गद्वार नामक एक अङ्ग है । इसको नान्दी न कहकर रङ्गद्वार कहना चाहिए । यही विचार भरत मुनि का भी है । उनके कथनानुसार नान्दी तो रङ्गद्वार के पूर्व ही कर ली जाती है । 'नान्द्यन्ते' का अर्थ है—नटकृत नान्दी पाठ की समाप्ति के पश्चात् सूत्रधार नटमण्डलाधिपति रङ्गभूमि से निकल जाता है और तत्पश्चात् (वेष-भूषा की दृष्टि से) उसी प्रकार का दूसरा नट जो नटोपाध्यक्ष अथवा स्थापक कहलाता है, रङ्गशाला में प्रवेश करता है । अतः सूत्रधार से तात्पर्य उपाध्यक्ष नामक दूसरे नट से है, प्रधान नट जो नान्दी पाठ करता है उससे नहीं । अतः प्रथम श्लोक कुछ आचार्यों के अनुसार लक्षण साम्य होने से रङ्गद्वार है ।

सामान्य रूप से ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए नान्दी पाठ होता है ।

सूत्रधार (पृ० २२)—

'सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः स्थापकनामा नटः ।' अर्थात् नाट्यसामग्री रूपी सूत्र को जो धारण करता है, वह सूत्रधार कहलाता है । यह सर्वप्रथम रंगभूमि में आकर कथावस्तु का बीजारोपण करता है ।

भाषावेषवपुःक्रियागुणकृतान् (श्लोक १; पृ० २२)—

अभिनय चार प्रकार के होते हैं—

१. वाचिक (भाषा) २. आहार्य (वेष) ३. कायिक (वपुःक्रिया) और ४. सात्त्विक (गुण) ।

वाचिक अभिनय—आलाप, गीत, वार्ता आदि होते हैं; आहार्य अभिनय–वेष-भूषा इत्यादि होते हैं; कायिक अभिनय—हस्त-पाद-नेत्र संचालन आदि और सात्त्विक अभिनय—हर्ष, लज्जा, चिन्ता, शोकादि होते हैं।

इन चार प्रकार के अभिनयों के द्वारा (राम, दुष्यन्त आदि) पात्रों का अनुकरण इस कुशलता के साथ किया जाता है कि सामाजिकों को नटों में पात्रों की ही प्रतीति होने लगती है।

भावावेशवशात् (पृ० २२)—

भाव और आवेश—ये चित्त के विकार होते हैं—

—'भावा बहुधा चित्तविक्रियाः'।

भाव अनेक प्रकार के होते हैं जैसे—रति, सत्य, भेद, भय, क्रोध, लोभ, मद, मोद, स्नेह, भ्रम इत्यादि।

अनेकरसताम् (पृ० २२)—

अनेक-रसता को। काव्य रस से युक्त होता है, जैसा कि साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ का भी मत है—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

काव्यप्रकाशकार मम्मट भी काव्य को नवरसों से रुचिकर मानते हैं—

'नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति'।

कुछ आचार्य काव्य में आठ ही रसों का समावेश करते हैं। वे काव्य में शांत रस के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु कुछ आचार्य काव्य में वात्सल्य रस का भी अन्तर्भाव मानते हैं। भक्ति इत्यादि और भी रस माने गये हैं।

नृत्तम् (पृ० २२)—

नृत्य और नृत्त इन दोनों शब्दों में गात्र-विक्षेप (अङ्गों का चलाना) अर्थ की समानता अवश्य है परन्तु फिर भी दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। नृत्य में पदार्थ का अभिनय होता है। धनञ्जय के अनुसार नृत्य भावाश्रित होता है—'भावाश्रयं नृत्यम्' (दश० १.९) जबकि नृत्त ताल (हाथ की ताली) और लय (द्रुत, मध्यम और विलम्बित) पर आश्रित होता है—'नृत्त'

ताललयाश्रम्' (दश० १.१०)। नन्दिकेश्वर के मतानुसार नृत्त में भावाभिनय नहीं होता है—

'भावाभिनयहीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते'। —अभिनयदर्पण १५

नृत्त सुकुमार प्रयोग है—इसका जन्म शृङ्गार रस से होता है। महोत्सव तथा प्रिया-समागम के समय इसका आयोजन विहित है। उसमें कथानक बिल्कुल नहीं होता है। पुनः नृत्य और नृत्त मधुर और उद्धत भेद से लास्य और ताण्डव रूप में दो प्रकार के होते हैं।

नृत्य और नृत्त का विवेचन सङ्गीतशास्त्र के ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

निष्प्रतिबद्धबोधमहिमा (पृ० २२)—

'निष्प्रतिबद्धः वोधस्य महिमा यस्य सः'। अर्थात् जिसके ज्ञान की महिमा अकुण्ठित है; जो अनिन्दनीय ज्ञान वाला है; जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी है।

कपाली—

यहाँ कपाली एक ओर शिव के लिए प्रयुक्त हुआ है और दूसरी ओर प्रस्तुत प्रहसन के मुख्य नायक सत्यसोम की ओर भी सङ्केत करता है।

चिरस्स कालस्स जोव्वणगुणभरमत्तविलास्प्पहणं (पृ० २२)—

यहाँ नटी 'मत्तविलासप्रहसन' की ओर प्रत्यक्ष सङ्केत नहीं कर रही है, अपितु सूत्रधार को वृद्धावस्था में छोटी पत्नी के साथ रमण करने के कारण उलाहना दे रही है कि 'यौवन के गुणों से भरे हुए मतवालों के विलास को दिखाने आए हो ?' सूत्रधार बहुत दिनों तक अपनी छोटी पत्नी के साथ रमण करता रहा जिससे कि बड़ी पत्नी (नटी) रूठ गई थी।

कुलपर्वत (पृ० २४)—

मुख्य पहाड़, जो इस महाद्वीप के प्रत्येक खण्ड में विद्यमान माने जाते हैं उन सात पहाड़ों में से एक। वे सात पर्वत ये हैं—

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च परियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥ —अमरकोष

ये पर्वत पृथ्वी को स्थिर रखते हैं, उसे दृढ़ता प्रदान करते हैं ऐसा माना जाता है।

महेन्द्रविक्रमवर्मा के पिता सिंहविष्णुवर्मा कुलपर्वत के समान थे। उन्होंने पर्वत सदृश समस्त राज्य को दृढ़ता, सुचारुता प्रदान की; समस्त पृथ्वी के भार को योग्य शासक के रूप में वहन किया।

शत्रुषड्वर्ग (पृ० २४)—

छः प्रकार के अन्तःशत्रु माने जाते हैं—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर।

महाभूत (पृ० २४)—

पञ्च महाभूत ये हैं—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश।

प्रज्ञादानदयानुभावधृतयः (श्लोक ३)—

बुद्धि, उदारता, अनुकम्पा, मर्यादा, दृढ़-सङ्कल्प, दीप्ति, शिल्प कला-ललित कला, समृद्धि, निष्ठा, पराक्रम, निष्कपटता और नम्रता आदि—इन बारह गुणों को कलियुग में जब कहीं स्थान प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् कोई उचित पात्र नहीं मिला तो ये सब गुण एक साथ मिलकर राजा महेन्द्रविक्रमवर्मा की शरण में उसी प्रकार चले गए जैसे प्रलय काल में देवता, मनुष्य, तिर्यक् (पशु-पक्षी) व स्थावर आदि सृष्टियाँ जगत् के आदि पुरुष मूल कारण की शरण में चली जाती हैं उसी में लीन हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि महेन्द्रविक्रमवर्मा सर्वगुणसम्पन्न था।

कल्पान्ते (पृ० २४)—

कल्प—सृष्टि। कल्पान्ते—सृष्टि के अन्त में अर्थात प्रलय काल में।

कल्प ब्रह्मा का एक दिन अथवा १००० युग। युग चार होते हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। सत्ययुग का परिमाण १७२८००० वर्ष; त्रेतायुग का परिमाण १२९६००० वर्ष; द्वापर युग का परिमाण ८६४००० वर्ष है तथा कलियुग ४३२००० वर्ष के परिमाण वाला है। इन चार युगों का एक चतुर्युग या महायुग कहलाता है। यह (चारों युग मिलकर) देवताओं का एक युग होता है। एक हजार महायुगों का एक दिन होता है और एक हजार महायुगों की ही ब्रह्मा की एक रात्रि होती है—

> सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
> रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

—भगवद्गीता ८.१७

आदिपुरुष (पृ०२४)—

जगत् का मूल कारण।

सर्गप्रभेदा (पृ० २४)

देवता, मनुष्य, तिर्यक् व स्थावर आदि सृष्टियाँ (सर्ग) के भेद हैं।

आकरे सूक्तिरत्नानां (श्लोक ४; पृ० २६)—

राजा महेन्द्रविक्रमवर्मा अपनी राजसभा में छोटे-बड़े सभी कवियों का समान रूप से आदर करता था। उसकी सभा-गोष्ठियों में काव्य गुणों से पूर्ण श्रेष्ठ कोटि की कृतियों को तो आदर मिलता ही था परन्तु साथ ही साथ साधारण कवियों की सामान्य कवितायें या सूक्तियाँ भी बहुत सम्मानित की जाती थीं।

स्थापना (पृ० २६)—

स्थापना, आमुख और प्रस्तावना—इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। प्रधान कथा-वस्तु का आरम्भ जहाँ से किया जाता है वहाँ तक प्रस्तावना चलती है। इसी को स्थापना या आमुख भी कहते हैं। आमुख का लक्षण है—

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखं प्रस्तावना वा।

—दश० ३.७८

अर्थात् जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) अथवा विदूषक के साथ बात करता हुआ विचित्र उक्तियों द्वारा कथा-वस्तु का सङ्केत करता हुआ अपने कार्य का वर्णन करता है उसे आमुख कहते हैं।

'इति निष्क्रान्तौ' तक यह प्रस्तावना चलती है।

कालिदास ने अपने तीनों नाटकों में 'प्रस्तावना' का प्रयोग किया है, जबकि भास ने अपने सभी नाटकों में स्थापना का प्रयोग किया है और शूद्रक ने आमुख का प्रयोग किया है। महेन्द्रविक्रमवर्मा ने भी प्रस्तुत प्रहसन में स्थापना शब्द प्रयुक्त किया है। सम्भवतः दक्षिण भारत के नाटककारों की 'स्थापना' शब्द का प्रयोग करने की विशेषता रही होगी।

किन्तु मत्तविलास की दूसरी हस्तलिखित प्रतिलिपि में 'आमुखम्' यह पाठ-भेद भी उपलब्ध होता है।

पेया सुरा (श्लोक ७; पृ० २८)—

भगवान् शिव कापालिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। श्मशान में वास करना, कपाल धारण करना, भस्म का लेप करना, विकृत वेष धारण करना इत्यादि इस सम्प्रदाय के नियम हैं। इसी सम्प्रदाय के अनुसार मद्य-पान करना और स्त्री-सहवास को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। और उसी (कापालिक सम्प्रदाय) के अनुसार कपाली यहाँ वर्णन करता हुआ कहता है कि इस प्रकार के मोक्ष के मार्ग को बताने वाले वे भगवान् शिव दीर्घजीवी हों, अर्थात् यह कापालिक सम्प्रदाय लम्बे समय तक चलता रहे।

अर्हन्त: (पृ० ३०)—

मोक्ष के लिए जो भी व्यक्ति पात्र हो गया है उसे अर्हत् कहते हैं। सातवीं शताब्दी में अर्हत् शब्द बौद्धों तथा जैनों, दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह शब्द जैनों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कार्यस्य नि:संशयमात्महेतो: (श्लोक ८; पृ० ३०)—

प्रस्तुत श्लोक में जैनों के हेतुवाद की ओर संकेत किया गया है। जैन हेतुवादी ये मानते हैं कि कार्य अपने कारण से समान रूप वाला होता है। कपाली का यह कहना है कि जैन लोग एक ओर तो हेतुवाद का समर्थन करते हैं और दूसरी ओर तप, समाधि आदि दु:ख का कार्य मोक्ष रूपी सुख को मानते हैं। अर्थात तपस्या आदि के द्वारा प्राप्त शारीरिक कष्टों से मोक्ष रूपी आनन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु दु:ख से सुख की प्राप्ति असम्भव है क्योंकि कारण (दु:ख) और कार्य (सुख) ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। अत: कपाली के कथनानुसार इस प्रकार के कथन से वे बेचारे हेतुवादी स्वयं ही परास्त हो गए। अर्थात् उनका सिद्धान्त उन्हीं पर व्यर्थ सिद्ध हो गया।

कार्य-कारण का यही भाव 'बुद्धचरित' के सप्तम सर्ग में भी उपलब्ध होता है—

दु:खेन मार्गेण सुखं ह्युपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥८॥

दु:ख को सुख का हेतु मानना उचित नहीं है यही कपाली का विचार है।

ये ब्रह्मचर्य-केशनिर्लोटन....(पृ० ३०)—

यहाँ जैन धर्म के नियमों की ओर संकेत है। ब्रह्मचर्य का पालन करना, बालों का लुंचन करना अर्थात् एक-एक करके बालों को उखाड़ना, मल धारण करना अर्थात् शरीर को मलिन रखना, भोजन के समय का नियम अर्थात् सूर्यास्त से पहले ही भोजन करना, मैले वस्त्र पहनना आदि जैन धर्म के नियम हैं। वे लोग कायक्लेश (शारीरिक कष्ट) पर बल देते हैं। जहाँ एक ओर बुद्ध ने आत्यन्तिक भोग और त्याग को छोड़कर मध्यम मार्ग को स्वीकार किया तो दूसरी ओर जैनों ने आत्यन्तिक त्याग के मार्ग को अपनाया।

अनतिशयमनन्तं....(श्लोक ९; पृ० ३०)—

जिन ऋषि मुनियों ने परमतत्त्व परमानन्द का साक्षात्कार कर लिया है, उनके अनुसार तपस्या से प्राप्त मोक्ष रूपी सुख अनतिशय अर्थात् अतिशय से रहित है। उसके बराबर अन्य कोई सुख नहीं है। वह सुख अन्तरहित है। कपाली का कहना है कि वैसा ही, मुनियों द्वारा वर्णित सुख यहाँ काञ्चीपुरी में भी पूर्णरूपेण विद्यमान है। परन्तु फिर भी दोनों सुखों में अन्तर है। काञ्ची का सुख इन्द्रिय-भोग्य और काम-भोग्य है जबकि मोक्ष रूपी सुख इन्द्रियगम्य नहीं है। कपाली के अनुसार काञ्ची का सुख तपस्या से प्राप्त सुख से भी बढ़कर है।

एष सुरापणो......(पृ० ३२)—

यहाँ मदिराशाला की तुलना यज्ञ स्थल से की गई है। यज्ञ स्थल पर पताका युक्त एक खम्भा होता है जिससे बलि के पशु को बाँधा जाता है; यहाँ मद्यशाला में भी पताका लगा हुआ स्तम्भ स्थित है।

सोमः —

सोमरस, मधु इत्यादि पेय पदार्थ होते हैं जो देवताओं को अर्पित किए जाते हैं। यहाँ मद्यशाला की मदिरा की तुलना सोमरस से की गई है।

ऋत्विजः —

ऋत्विक् पुरोहित होते हैं जो यज्ञ करते हैं। मदिराशाला के दुकानदार (शौण्डाः) ऋत्विक् तुल्य हैं। चमसाः—सोमपान करने का लकड़ी के चमचे के आकार का यज्ञ का पात्र होता है। चषकाः—चमड़े का पात्र जिसमें मदिरा आदि पीते हैं—सुरापात्र, प्याला।

हविः —

पुरोडाश आदि विशेष प्रकार का आहार है जो देवताओं को यज्ञ के अवसर पर अर्पित किया जाता है। मदिराशाला में शूली पर पका हुआ माँस आदि भोज्य पदार्थ ही मानों हवि स्वरूप है।

यजूंषि—

यजुर्वेद के मन्त्रः मदिरा पीने पश्चात् नशे में चूर लोगों के प्रलाप (मत्तवचनानि) ही मानों यजुर्वेद के मन्त्र हैं।

सामानि—

सामवेद। यज्ञ के अवसर पर सामवेद के मन्त्रों का सस्वर गान (पाठ) होता है; मद्य पान के पश्चात् मतवालों के गाने सामवेद के गानों के सदृश हैं।

उदङ्काः —

तेल आदि रखने के लिए चमड़े का बना हुआ बर्तन, कुप्पा।

स्रुवाः —

यज्ञ का चमचा।

तर्षोऽग्निः —

मदिरा की तृष्णा अग्नि तुल्य है। जैसे यज्ञाग्नि में घृत, हवि आदि डालने से वह और अधिक प्रज्ज्वलित होती है उसी प्रकार मदिरा की तृष्णा भी स्वतः तीव्र होती जाती है।

सुरापणाधिपतिः —

मद्यशाला का स्वामी यजमान स्वरूप है।

मिथ्यात्रिलोचनपावकेन (श्लोक १०; पृ० ३२)—

यह पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि शिव की तपस्या भङ्ग करने के लिए कामदेव ने नृत्य किया जिसके फलस्वरूप शिव ने क्रुद्ध होकर अपने तृतीय नेत्र की अग्नि से कामदेव को भस्म कर दिया और तभी से वह अनङ्ग कहलाए। यहाँ कपाली यह कल्पना करता है कि कामदेव के विषय में प्रचलित यह कथा झूठी है। उसके अनुसार कामदेव का शरीर भस्म नहीं बना अपितु शिव के तीसरे नेत्र की गर्मी से वह शरीर, द्रव रूप में परिणत हो गया। उस द्रवीभूत पदार्थ ने मदिरा का रूप धारण कर लिया। वही मदिरा मन को अत्यधिक मतवाला बना देती है।

यह वस्तुतः कपाली की कल्पना मात्र है, वास्तविकता नहीं।

स्नेहात्मिका (पृ० ३२)—

द्रवीभूत। स्नेह—तेल, द्रव।

प्रस्तुत श्लोक की अन्तिम पङ्क्ति वर्ण-साम्य के कारण कालिदास का अनुकरण करती है—

'सेयं प्रिये! मदयति प्रसभं मनांसि'। —मत्तविलास
'मायूरी मदयति मार्जना मनांसि'। —मालविकाग्निमित्रम्, १.२१

अभितापवशात् (पृ० ३२)—

गर्मी के कारण।

आपद्धर्मम् (पृ० ३४)—

विपत्ति के समय का धर्म।

विपत्ति के अवसर पर जब शास्त्रों में निर्दिष्ट कर्तव्य का पालन करना कठिन हो उस समय आपद्धर्म को प्रमाण मानकर वह निषिद्ध कार्य किया जा सकता है। जैसे एक बार दुर्भिक्ष पड़ने पर महर्षि विश्वामित्र को जब कहीं भोजन प्राप्त नहीं हुआ तब अपने प्राणों की रक्षा के लिए उन्होंने श्वान का मांस भक्षण, इसी आपद्धर्म को प्रमाण मानकर किया (महाभारत, शान्तिपर्व, १४१)।

उसी प्रकार देवसोमा का कहना है कि जब भिक्षा-पात्र कपाल नहीं मिल रहा है तो आदरपूर्वक लाई गयी भिक्षा का तिरस्कार न करके आपद्धर्म को प्रमाण मानकर गोसींग में भिक्षा स्वीकार करनी चाहिए।

गोश्रृङ्गेण (पृ० ३४)—

कापालिकों के पास गाय के सींग से बना भी एक पात्र रहता था जिसका वे समय पड़ने पर उपयोग कर सकते थे, भिक्षा आदि ग्रहण कर सकते थे।

उपासकस्य (पृ० ३६)—

बौद्ध धर्म में उपासक और भिक्षु—इन दो प्रकार के अनुयायियों का उल्लेख मिलता है। जो लोग गृहस्थ होते हैं, और सन्यासी नहीं हैं, उनको उपासक कहा जाता है और जो सन्यास धर्म में रहने वाले बौद्ध हैं वे भिक्षु कहलाते हैं। जैनों में उपासक को श्रावक और भिक्षु को मुनि कहा जाता है।

पाँच नियम जो 'पञ्चशील' कहे जाते हैं सर्वसाधारण के लिए और उपासक के लिए आवश्यक हैं। उपासक के लिए मदिरा पीने और स्त्री-सहवास की भी अनुमति थी परन्तु भिक्षुओं के लिए इन दोनों का पूर्ण निषेध था। उनके लिए दस नियम हैं जो 'दशशील' कहे जाते हैं।

मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। गृहस्थ के लिए अनेक विघ्न हैं। उसके लिए साधना सुलभ नहीं हैं। साधारणतः वह स्वर्गोपपत्ति चाहता है। उसके लिए शील की शिक्षा है। उपासक होने के लिए त्रिशरण 'गमन' विधि है। जो उपासक होना चाहता है वह बुद्ध, धर्म और सङ्घ की शरण में जाता है। बुद्ध की शरण में जाने का अर्थ है बुद्धकारक धर्मों की शरण में जाना।

उपासकों के पञ्चशील और भिक्षुओं के दशशील ये हैं—

१. प्राणातिपातविरति, २. अदत्तादानविरति, ३. काममिथ्याचारविरति, ४. मृषावादविरति, ५. सुरामद्यमैरेयस्थानविरति, ६. अकालभोजनविरति, ७. नृत्यगीतवादित्रविरति, ८. माल्यगन्धविलेपनविरति, ९. उच्चासनशयनविरति, १०. जातरूपरजतप्रतिग्रहविरति।

इनमें पहले पाँच नियम पञ्चशील हैं। दशशील में पञ्चशील भी अन्तर्भूत हैं।

उपासक धर्म श्रवण करते हैं, उपवास, व्रत रखते हैं, भिक्षुओं को दान देते हैं और चार तीर्थों की यात्रा करते हैं। चार तीर्थ ये हैं—कपिलवस्तु, बोधिगया, सारनाथ और कुसिनारा (कुशीनगर)। उपासक को भद्रकशील और भद्रकदृष्टि से समन्वागत होना चाहिए। उसको मानसिक, कायिक तथा वाचिक दुश्चरित से बचना चाहिए। उसको सुचरित करना चाहिए। इस प्रकार वह अपाय गति से बचता है और स्वर्ग में उत्पन्न होता है।[1]

मत्स्यमांसप्रकारबहुलोऽयं (पृ० ३६)—

बुद्ध ने प्रवृत्त मांस का निषेध नहीं किया। अहिंसा के वे अवश्य ही पूर्ण पक्षपाती थे; परन्तु ऐसे पशु के मांस को, जिसको (पशु को) किसी दूसरे व्यक्ति ने मारकर पकाया है, उसको खाने की अनुमति बुद्ध ने दी है। मांस, मछली आदि जिसकी हिंसा स्वयं नहीं की है उसको खाने में कोई पाप नहीं है, ऐसा बुद्ध ने माना है।

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव, 'बौद्ध-धर्म-दर्शन,' पृ० २४।

राजविहारमेव (पृ० ३६)—

काञ्ची में स्थित विहार सम्भवतः वहुत बड़े थे जैसा कि इत्सिग ने, जो भारत में ६७३ ई० से ६८८ ई० तक रहा, वर्णन किया है। वे बड़े-बड़े विहार ही कदाचित् राजविहार कहे जाते हों।

पञ्चसुगन्धव्बोवहिअं (पृ० ३६)—

एला (इलायची), लवंग, कस्तूरी, केसर, चन्दन ये पाँच सुगन्धित पदार्थ ताम्बूल (पान) में प्रयुक्त होते हैं।

सर्वज्ञ (पृ० ३६)—

सर्वज्ञ शब्द बुद्ध के लिए प्रयुक्त होता है।

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥१३॥

—अमरकोषः (प्र. का., स्वर्गवर्गः १)

स्थविरैः (पृ० ३६)—

इस पद में श्लेष है। एक ओर स्थविर पद का अर्थ वृद्ध लिया जा सकता है और दूसरी ओर बौद्धों के स्थिविरवाद की ओर भी संकेत मिलता है।

स्थिविरवाद सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का सर्वाधिक प्राचीन सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रवचनकार स्वयं भगवान् बुद्ध थे। स्थविरवाद का अर्थ है स्थविरों अर्थात् वृद्ध ज्ञानी पुरुषों और तत्त्वदर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिए 'स्थविर' शब्द का प्रयोग किया गया है। बुद्ध मन्तव्य के विषय में उन स्थविरों का मत ही अन्तिम प्रमाण था। अतः स्थविरवाद का अर्थ प्रामाणिक मत भी हो गया।[२]

पिटकपुस्तकेषु (पृ० ३६)—

पिटक अर्थात् पिटारियाँ। बौद्ध धर्म में तीन पिटक सर्वस्व माने जाते हैं—

१. विनयपिटक (ये आचार सम्बन्धी ग्रन्थ हैं।)
२. सुत्तपिटक (इसमें बुद्ध के उपदेश निहित हैं।)

---

२. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३८३।

३. अभिधम्मपिटक (इसमें दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक अध्ययन है।)

इन पिटकों में अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं। विनयपिटक में सात और अभिधम्मपिटक में छः ग्रन्थ हैं। सुत्तपिटक में पाँच निकाय (सुत्तसमूह) हैं—

१. दीघ निकाय (३४ सुत्त), २. मज्झिम निकाय (१५२ सुत्त), ३. संजुत्त निकाय (५६ संजुत्त), ४. अंगुत्तर निकाय (११ निकाय), ५. खुद्दक निकाय—इस निकाय में १५ छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं जिनमें बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध ५५० कथाओं का संग्रह जातक रूप में मिलता है जो अत्यन्त विख्यात है।

संक्षेप में बौद्ध धर्म के त्रिपिटक को इस प्रकार समझा जा सकता है—

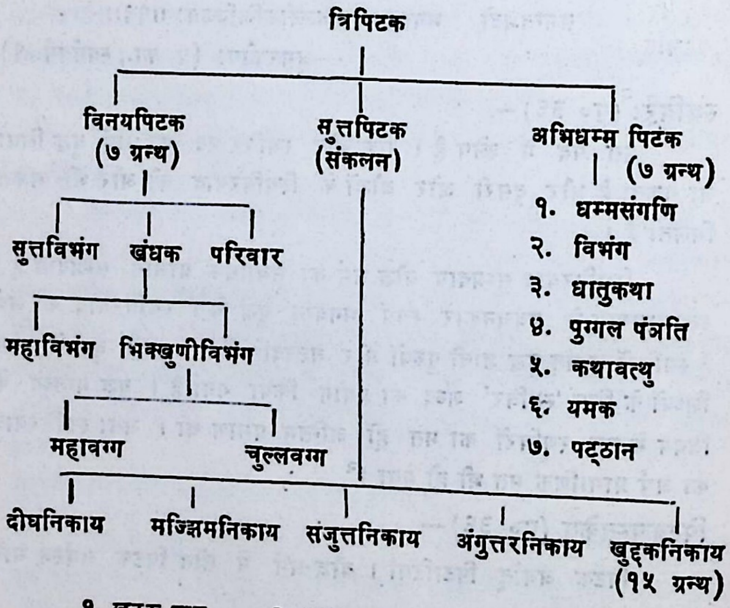

१. खुद्दक पाठ, २. धम्म पद, ३. उदान, ४. इतिवुत्तक, ५. सुत्तनिपात, ६. त्रिमानवत्थु, ७. पेतवत्थु, ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निद्देस, १२. पटिसंविधा, १३ अपदान, १४. बुद्धवंश, १५. धम्मपिटक या चरीयपिटक।

एकाम्रवासी (पृ० ३८)—

'एकाम्र' शब्द काञ्चीपुरी का बोध कराता है।

संवृतसत्यं परमार्थसत्यं श्रोतुमिच्छामि (पृ० ४०)—

'संवृत' या संवृति का अर्थ है 'आवरण' अर्थात् अविद्या का आवरण। इस आवरण द्वारा मृषा (झूठा) ज्ञान होता है। यह आवरण हमको उसी प्रकार आच्छन्न कर लेता है जिस प्रकार जन्म होते ही हमको आकाश प्रत्येक ओर से आच्छन्न कर लेता है। संवृति स्वतः सिद्ध है। इस जगत् की सत्ता सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं। केवल परमार्थ सत्य के अधिगम से ही संवृति सत्य मृषा सिद्ध हो सकता है। सब पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का होता है—सांवृतिक और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है वह संवृतिसत्य कहलाता है; सम्यग्दर्शी का जो विषय है वह परमार्थ सत्य कहलाता है।

परमार्थ सत्य सर्वज्ञान का अतिक्रमण करता है। वह किसी प्रकार भी बुद्धि का विषय नहीं हो सकता तथापि परमार्थ तत्त्व सर्वप्रपञ्च विनिर्मुक्त होता है, इसलिए सर्वोपाधि से शून्य है। वस्तुतः सब भावों की शून्यता ही परमार्थज्ञान है। संवृति सत्य तो किसी स्तर पर बाधित हो जाता है, परन्तु परमार्थ सत्य कहीं भी बाधित नहीं होता है।

नागार्जुन ने माध्यमिक शास्त्र में संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के भेद को बताया है।

नमो खरपटाय (पृ० ४०)—

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समय (चौथी शताब्दी) से 'खरपट' चोर-शास्त्र के रचयिता माने जाते हैं। भास ने भी अपने नाटक चारुदत्त में खरपट शब्द का प्रयोग किया है।

वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् (श्लोक १२; पृ० ४०)—

वेदान्त का अर्थ है वेदों का अन्त या ज्ञान की चरम सीमा। आत्म-साक्षात्कार से प्राप्त होने वाला अनिर्वचनीय सर्वोच्च सत्य अथवा ज्ञान। यही उपनिषद् भी कहलाता है।

महाभारतादपि (श्लोक १२; पृ० ४०)—

महाभारत में भी इसी आत्म तत्त्व अथवा ब्रह्म का विस्तृत विवेचन

है। भगवद्गीता जो वस्तुतः भगवद्गीतोपनिषद् शब्द का संक्षिप्त रूप है; तथा जिसमें महाभारत का और सभी उपनिषदों का सार आया है, वेदान्त का स्रोत है।

कपाली का यह कथन—'बुद्ध ने वेदान्तों और महाभारत से भी तत्त्वों को ग्रहण करके अपना कोश भर लिया'—बौद्ध धर्म और वेदान्त तथा महाभारत के अनेक सिद्धान्तों के साम्य की ओर सङ्केत करता है।

भिक्षु धर्म का प्रतिपादन, नैतिक आचरण तथा करुणा से बहुजन समाज की सेवा—यह बुद्ध का उपदेश उपनिषद् सम्मत ही है। बुद्ध का दुःखवाद सांख्य-योग दर्शन से आया है। दार्शनिक विचारों के विकासार्थ, विशेषतः महायान सम्प्रदायों ने उपनिषदों से ही प्रेरणा ली है। वेदान्त और बौद्ध सिद्धान्त दोनों ही अद्वैती हैं। अमरकोष के अनुसार अद्वयवादी बुद्ध का पर्यायवाची शब्द है। माया, अविद्या, पुनर्जन्म, ब्रह्म, निर्वाण आदि की धारणाएँ वेदान्त तथा बौद्ध धर्म में समान रूप से देखी जा सकती हैं।

'कोशसञ्चय' शब्द के द्वारा कपाली का व्यंग्य भी प्रकट होता है कि बुद्ध ने लोगों के देखते-देखते ही धनसञ्चय कर लिया।

दृष्टानि वस्तूनि (श्लोक १३; पृ० ४४)—

बौद्धों के अनुसार जगत् की सत्ता सांवृतिक है, इस जगत् का अस्तित्व नहीं है। इस संसार की सभी वस्तुएँ पृथ्वी, समुद्र, पर्वत इत्यादि जो दिखाई देती हैं अविद्या के आवरण के कारण दिखाई देती हैं। वास्तव में उनका कोई अस्तित्व नहीं है, सब शून्य है। योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदाय के लोग इस बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं।

नहि प्रतिज्ञामात्रेण (पृ० ४४)—

अनुमान के पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपगम और निगमन। इनसे हेतुवादियों का अनुमान पूरा होता है। प्रतिज्ञा (dogmatism) तो मात्र पहला ही अवयव है, अतः केवल अवयव से अनुमान पूरा नहीं होता है।

प्रत्यक्षे (पृ० ४८)—

'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'? अर्थात् जहाँ प्रत्यक्ष है वहाँ किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

आस्थाय प्रयतो (श्लोक १७; पृ० ५०)—

अत्यन्त प्राचीन काल में समस्त लोक और उनमें विद्यमान सभी कुछ एक समुद्र में जलमग्न हो गए। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, वायु, अग्नि और घास तथा झाड़ियाँ भी जल में डूब गए। समस्त संसार में घोर अन्धकार व्याप्त हो गया। भगवान् (Supreme Being) सहस्रों रात्रियों से घोर निद्रा में लीन थे। रात्रि के अन्त में रजोगुणमय होकर सृष्टि की रचना के लिए उद्यत हुए। समस्त वेदों और वेदांगों के ज्ञाता वे भगवान् पाँच अद्भुत मुखों सहित प्रकट हुए। इसी प्रकार तीन नेत्रों वाला जटाधारी, त्रिशूल हाथ में लिए रुद्राक्ष माला पहने तमोगुण सम्पन्न पुरुष (The Male Creative Energy) उत्पन्न हुआ। तब महात्मा (Supreme Spirit) ने अहङ्कार (Egoism) को उत्पन्न किया। इससे ब्रह्मा और शिव दोनों प्रभावित हुए। अहङ्कार से अभिभूत हुए ब्रह्मा और शिव दोनों में कलह हुआ जिसके फलस्वरूप भगवान् (The Lord) का जन्म हुआ। जन्म के तुरन्त पश्चात् भगवान् ने एक अद्वितीय बाँसुरी ली और उसे बजाते हुए आकाश में चले गए। जब ब्रह्मा से परास्त हुए शिव क्रोधित हुए खड़े थे तब ब्रह्मा के पाँचवे मुख ने कहा कि 'तीन नेत्रों वाले, रजोगुणमय वायु का वेष धारण करने वाले, वृषभ पर सवारी करने वाले तुम संसार के संहारक हो।' शिव ने क्रोधावेश में अपने तृतीय नेत्र की अग्नि से ब्रह्मा को भस्म करना चाहा। ब्रह्मा के मुख सूर्य की तरह चमक रहे थे। उन्होंने शिव से कहा—'जब तुम जल पर प्रहार करोगे तब बुलबुले निकलेंगे, पर क्या उनमें शक्ति होगी?' इस पर शिव ने अत्यन्त क्रोधित होकर अपने नख से ब्रह्मा के सिर को काट दिया।

—वामनपुराण, अध्याय २

नाथोऽपि त्रिदिवौकसाम् (पृ० ५०)—

इन्द्र द्वारा त्रिशिरा के सिर काटने की कथा देवीभागवतपुराण में इस प्रकार आती है—

प्राचीन काल में त्वष्टा नाम के विख्यात प्रजापति थे। यद्यपि पूत-स्वभाव वाले वे ब्राह्मणों व देवों की उन्नति में रुचि रखते थे, फिर भी वे देवराज इन्द्र के विरोधी थे। अतः उन्होंने इन्द्र के संहार का विचार किया। तब अपनी रचना से विश्वरूप नाम का एक शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न किया। उसके तीन सिर थे। इसलिए उसका नाम त्रिशिरस् पड़ा। इन तीन सिरों का

प्रयोग वह एक ही बार में तीन कार्यों के लिए कर सकता था। एक का प्रयोग वह वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए, दूसरे का मदिरा पीने के लिए और तीसरे सिर का प्रयोग वह संसार देखने के लिए कर सकता था। बाल्यावस्था से ही उसे सांसारिक सुखों से विरक्ति हो गई थी। वह भोजन का त्यागकर तप करता था। ग्रीष्म ऋतु में अग्नि के मध्य बैठकर और शीत ऋतु में ठंड़े पानी में बैठकर और कभी शीर्षासन लगाकर तप करता था। उसके इस प्रकार के कठोर तप को देखकर इन्द्र को भय होने लगा। फलस्वरूप उसकी तपस्या भङ्ग करने के लिए इन्द्र ने स्वर्ग की अप्सराएँ भी भेजीं परन्तु सब प्रयत्न व्यर्थ गए। तब इन्द्र स्वयं अयने ऐरावत हाथी पर चढ़कर गए और अपने वज्रायुध से त्रिशिरस् को मार दिया। परन्तु इस भय से कि कहीं अपने तप के प्रभाव के कारण वह पुनर्जीवित न हो जाए, इन्द्र ने अपने समीपस्थ एक बढ़ई से त्रिशिरस् के तीनों सिरों को उसके शरीर से अलग करके लाने के लिए आदेश दिया। आदेशानुसार उस कर्मकार ने सिरों को काट दिया। परन्तु जैसे ही एक-एक सिर कटकर पृथ्वी पर गिरा, उनसे विभिन्न प्रकार के पक्षी भागते हुए दिखाई दिए। जिस सिर से वह वैदिक मंत्रों का उच्चारण करता था उससे कपिञ्जल नामक पक्षी, जिससे वह मदिरा पीता था उससे कलपिङ्ग नामक पक्षी और संसार का निरीक्षण करने वाले सिर से तित्तिरि नामक पक्षी उड़े। तब इन्द्र को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि त्रिशिरस् निश्चित रूप से मारा गया है।

आगमानुगतमभिहितम् (पृ० ५०)—

निगम वेद हैं और वेदों को छोड़कर जिन ग्रन्थों को प्रमाण माना जाता है वे आगम कहलाते हैं। ये तान्त्रिक ग्रन्थ हैं। शैवागम, शाक्तागम, बौद्धागम, जैनागम इत्यादि।

मायासन्तानसम्भवाः (पृ० ५२)—

'माया' शब्द श्लेषार्थक है। एक ओर बुद्ध की माता मायादेवी का सङ्केत है—माया के पुत्र, अर्थात् बुद्ध के अनुयामी और दूसरी ओर बुद्ध के मायावाद पर व्यंग्य है।

दानपारमिता (पृ० ५२)—

पारमिता शब्द का अर्थ है 'पूर्णत्व'। पारमिताएँ छः होती हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा।

महायान ग्रन्थों के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए यत्नवान् है अर्थात् जो बोधिसत्व है, उसे षट्पारमिता का ग्रहण करना चाहिए। इन षट्पारमिताओं का अर्जन बुद्धत्व प्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। षट्-पारमिता में प्रज्ञा का प्राधान्य है। प्रज्ञापारमिता यथार्थज्ञान को कहते हैं। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए ही अन्य पारमिताओं की शिक्षा कही गई है। ये पञ्चपारमिताएँ प्रज्ञा रहित होने पर लौकिक कहलाती हैं। जब पञ्च-पारमिताएँ प्रज्ञापारमिता से समन्वागत होती हैं तभी वह सचक्षुक कहलाती हैं और उसको लोकोत्तर संज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारमिताओं का ग्रहण नितान्त आवश्यक है। सम्बोधि की प्राप्ति में दान प्रथम कारण है, शील दूसरा। आत्मभाव का त्याग तथा निस्वार्थ बुद्धि की प्रकृष्टता दानपारमिता है। दान, शील की अनुपालना क्षान्ति द्वारा होती है। दानादि त्रितय पुण्यसंभार, वीर्य अर्थात् कुशलोत्साह के विना नहीं हो सकता; और विना ध्यान अर्थात् चित्तैकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता क्योंकि समाहित चित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है जिससे सब आवरणों की अत्यन्त हानि होती है।[3]

भरतवाक्यम् (पृ० ६२)—

इससे नाट्याभिनय की समाप्ति पर सामाजिकों के लिए नट के द्वारा आशीर्वाद दिया जाता है।

१. प्रस्तावना के अनन्तर वे नट ही नाट्य के विभिन्न पात्रों के रूप में रङ्गशाला में प्रकट होते हैं। अभिनय की समाप्ति पर उसी पहले रूप में प्रकट होना सम्भव नहीं होता है; अतः नटवाक्य न कहकर भरत-वाक्य कहा जाता है।

२. नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि की स्मृति में पुनः यह नट-वाक्य भरतवाक्य कहा जाता है।

राजन्वान् (श्लोक; पृ० ६२)—

राजन् शब्द से राजवत् और राजन्वत् दोनों शब्द बनते हैं। राजवत् शब्द का अर्थ है 'केवल राजा से युक्त' अर्थात् उस देश का राजा उत्तम नहीं है; और जो देश न्यायपरायण तथा उत्तम राजा द्वारा शासित है वह राजन्वत् है—

सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात् ततोऽन्यत्र राजवान्। —अमरकोषः।

---

३. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध-धर्म-दर्शन', पृ० १८४।

श्लोक-सूची

श्लोक	संख्या	पृष्ठ
अजिह्वैः सारगुरुभिः	१८	५२
अनतिशयमनन्तं	९	३०
आकरे सूक्तिरत्नानाम्	४	२६
आवृतं बहि-	१६	५०
आस्थाय प्रयतो	१७	५०
उद्भिन्नरोमाञ्चकपोलरेखम्	५	२४
उद्भिन्नश्रमवारिबिन्दु-	६	२६
कार्यस्य निःसंशयम्	८	३०
गृहीतशूला	१९	५६
चिरं मया	२१	६०
तां क्षौरिकस्य	१४	४६
दृष्टानि वस्तूनि	१३	४४
निर्विष्टोज्झित-	२०	५६
पेया सुरा	७	२८
प्रज्ञादानदया-	३	२४
भाषावेषवपुः	१	२२
मिथ्यात्रिलोचन-	१०	३२
यदेतदासीत्	१५	५०
येन मम पानभोजन-	११	२४
विरोधः पूर्व-	२२	६२
वेदान्तेभ्यो	१२	४०
शश्वद् भूत्यै	२३	६२
सम्प्रति सङ्गीतघनः	५	२६

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

मत्तविलासप्रहसन (आवृत्तियाँ)

1. Giri, Sri Kapildev : *Mattavilāsa Prahasana*; Varanasi, 1966.
2. Unni, N.P., *(ed. and tr.)* : *Mattavilāsa Prahasana of Mahendravikrama Varman*, Trivandrum, 1974.

संस्कृत-ग्रन्थ

अभिनवगुप्त : 'अभिनवभारती' सं० डा० नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६० ।

दण्डी : 'काव्यादर्श', दिल्ली, १९७३ ।

भरत : 'नाट्यशास्त्रम्' (काव्यमाला ४२), भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८३ ।

मम्मट : 'काव्यप्रकाश', दिल्ली, १९६६ ।

विश्वनाथ : 'साहित्यदर्पण', बरेली, १९७६ ।

शुभङ्कर : 'सङ्गीतदामोदर', कलकत्ता, १९६९ ।

हिन्दी-ग्रन्थ

गैरोला, वाचस्पति : 'भारतीय नाट्य-परम्परा और अभिनयदर्पण', संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७१ ।

गैरोला, वाचस्पति : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', इलाहाबाद, १९६० ।

नरेन्द्रदेव, आचार्य : 'बौद्ध-धर्म-दर्शन', पटना, १९५६ ।

त्रिपाठी, रमाकान्त : 'संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त', वाराणसी, १९६९ ।

अंग्रेजी-ग्रन्थ

Diskalkar, D.B. : *Selections from Sanskrit Inscriptions* (2nd century to 8th century A.D.), Delhi, 1977.

Gopalan, R. : *History of the Pallavas of Kāñchī*, Madras, 1928.

Mani, Veṭṭam : *Puranic Encyclopaedia*, Delhi, 1975.

Śastrī, N. K. : *A History of the South India*, Madras, 1955.

कोष

अमरसिंह : 'अमरकोष', १९७२ ।

आप्टे, वी०एस० : 'संस्कृत हिन्दी कोष', दिल्ली, १९६६ ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	७	प्रसार	प्रकार
३	२०	उपदेशपेरक	उपदेशपरक
७	६	वेषभाषाषिः	वेषभाषाभिः
८	७	परस्य	परस्थ
८	१७	अङ्कों	अङ्गों
११	१३	वल्लम	वल्लम्
१३	१	सम्बन्ध	सन्दर्भ
१३	२२	काल्पनिक	कापालिक
१४	११	सांपृतिक	सांवृतिक
१५	३	काम	काय
१५	२०,२३	जैनों	जैनियों
१६	१५	शाक्तभिक्षृ	शाक्यभिक्षु
१७	३,७	वभ्र ु कल्प	बभ्र ु कल्प
१७	२१	है	हैं
२१	१०	भममिति	भयमिति
२७	१	वाली	वाले
२७	१६	करता)	करता है)
५०	२५	पुरायताम्	पुण्यताम्
५२	३	निमितम्	निर्मितम्
५४	२६	खादितुकाओ	खादितुकामो
५६	१६	चीवधररो	चीवरधरो
६३	२१	विधिपूर्वैक	विधिपूर्वक
८०	९	अयने	अपने
८०	२६	अनुयामी	अनुयायी

SOME IMPORTANT PUBLICATIONS

1.	*Aruṇa Bhāratī : Professor A. N. Jani Felicitation Volume (Studies in Contemporary Indological Research)*—Eds. B. Datta, U. C. Sharma, N. J. Vyas	Rs. 300
2.	*Sacrifice in India: Concept and Evolution*—Ed. Sindhu S. Dange	Rs. 150
3.	रसमंजरी of भानुदत्तमिश्र with two commentaries: 'परिमल' of शेषचिन्तामणि and 'रसामोद' of त्रिविक्रममिश्र—Ed. Ram Suresh Tripathi	Rs. 150
4.	*Professor Ram Suresh Tripathi Commemoration Volume*—Eds. U. C. Sharma, S. R. Sarma, G. C. Sharma	Rs. 150
5.	प्रसाद के नाटक : विषयतत्त्व और अभिव्यंजना—भगवती शर्मा	Rs. 150
6.	बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन—सूर्यप्रकाश व्यास	Rs. 130
7.	*The Viśvamitras and the Vasiṣṭhas: An Exhaustive Historical Study (Vedic and Post-Vedic)*—by U. C. Sharma	Rs. 120
8.	*Evil, Suffering and Salvation (A Comparative Perspective in Religions)*—N. J. Vyas	Rs. 80
9.	*The Dāśarājña War : Struggle for Supremacy in the Vedic Age*—by U. C. Sharma	Rs. 55
10.	कालिदास और प्रकृति—पुष्पा हजेला	Rs. 80
11.	माधवी (पौराणिक महाकाव्य)—शान्तिस्वरूप 'कुसुम'	Rs. 50
12.	ययाति आख्यान : एक अध्ययन—गिरीशचन्द्र शर्मा	Rs. 50
13.	कौरवी लोकोक्तियां : भाषिक-सांस्कृतिक विवेचन–शिवकुमार शांडिल्य	Rs. 40
14.	*A.M.U.—The National Context*—by S. S. Gupta	Rs. 40
15.	*The Vedic Priests of the Fire-Cult*—V. G. Rahurkar	Rs. 35
16.	*Second Chamber of Indian Parliament: Rajya Sabha*—by Bina Das	Rs. 30
17.	छन्दोऽनुक्रमणी of शौनक—Ed. U. C. Sharma	Rs. 30
18.	आर्षानुक्रमणी (शौनक)—हिन्दी अनुवाद सहित—उमेशचन्द्र शर्मा	Rs. 30
19.	आवारा यादों के गीत (हिन्दी कवितायें)—शिवशंकर शर्मा 'राकेश'	Rs. 30
20.	भक्तिमीमांसा—हिन्दी अनुवाद सहित—विश्वनाथ शुक्ल	Rs. 20
21.	ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी of कात्यायन and अनुवाकानुक्रमणी of शौनक—Ed. U. C. Sharma	Rs. 20
22.	धर्म-नवनीत—आचार्य मुरारीलाल	Rs. 15
23.	चरणव्यूहसूत्रम् of शौनक—Ed. U. C. Sharma	Rs. 15
24.	नेपाल में पंचायती लोकतन्त्र—रामजी द्विवेदी	Rs. 15
25.	भावलोक (हिन्दी कवितायें)—विश्वनाथ शुक्ल	Rs. 12
26.	पवनदूतम् (धोयी)–हिन्दी अनुवाद सहित-उमेशचन्द्र शर्मा, गिरीशचन्द्र शर्मा	Rs. 10
27.	घटकर्परकाव्यम्–हिन्दी अनुवाद सहित–उमेश चन्द्र शर्मा, गिरीशचन्द्र शर्मा	Rs. 5

VIVEKA PUBLICATIONS
Samad Road, ALIGARH-202 001, U. P., India